भारतीय साहित्य सिद्धान्त

(Indian Literature Theory)

ऋषि प्रसाद

भारतीय साहित्य सिद्धांत

भारतीय साहित्य सिद्धांत
(Indian Literature Theory)

ऋषि प्रसाद

भाषा प्रकाशन
नई दिल्ली - 110002

© प्रकाशक

I.S.B.N. : 978-81-323-5565-6

प्रथम संस्करण : 2021

भाषा प्रकाशन

22, प्रकाशदीप बिल्डिंग, अंसारी रोड,
दरियागंज, नई दिल्ली - 110002

द्वारा वर्ल्ड टेक्नोलॉजीज नई दिल्ली के सहयोग से प्रकाशित

प्रस्तावना

मनुष्य विविध देशकाल में भाषा, साहित्य और संस्कृति का सृजन और विकास करता आया है, जिसमें अनेक प्रकार की विविधताएँ, भिन्नताएँ और समानताएँ पाई जाती हैं। इन भिन्नताओं और समानताओं का अध्ययन क्रमशः व्यतिरेकी अध्ययन और तुलनात्मक साहित्य की दिशा में प्रेरित करता है। मैथ्यू आर्नल्ड ने इसी आधार पर तुलनात्मक विश्व साहित्य की संकल्पना प्रस्तुत की थी। उनके अनुसार आलोचक को विश्व साहित्य में, जो कुछ भी श्रेष्ठतम और महनीय है उसका अध्ययन, मनन और प्रचार करना चाहिए ताकि प्राणवान और सत्य विचारों की धारा प्रवाहित की जा सके। ऐसा करने से विभिन्न भाषाओं के साहित्य में विद्यमान समान मूल्यों को खोजा जा सकता है।

भारतीय साहित्य का क्षेत्र बहुत विस्तृत और व्यापक है। प्रो.दिलीप सिंह के अनुसार, "भारतीय संविधान की आठवीं अनुसूची में जिन 22 भाषाओं और बोलियों का उल्लेख है, उनका साहित्य अत्यंत संवृद्ध है और यदि ऐतिहासिक दृष्टि से देखा जाए तो इन सभी भाषाओं में साहित्यिक धाराएँ लगभग समानांतर रूप में प्रवाहित मिलती हैं। इसके साथ ही इन सभी भाषाओं का राष्ट्रीय चेतना और उसमें आने वाले परिवर्तनों के साथ एक-सा संबंध रहा है तथा ये सभी राष्ट्रीय स्तर पर हो रहे परिवर्तनों से एक-सा प्रभावित रही हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि ऐतिहासिक, सामाजिक और सांस्कृतिक दृष्टि से भारत की सभी भाषाएँ और उनका साहित्य भी एकता के सूत्र में बंधा हुआ प्रतीत होता है, इसीलिए भारत की इन भिन्न भाषाओं में लिखे गए साहित्य को भारतीय साहित्य कहा गया है।" यहाँ यह जानना आवश्यक है कि साहित्यिक धारा, विचारधाराएँ,

प्रवृत्तियाँ और सामाजिक सरोकार के धरातल पर भारतीय साहित्य में जो समानताएँ मिलती हैं, उन्हें 'भारतीयता' (Indianness) के तत्त्व या घटक कहा जा सकता है।

भारत की प्रत्येक भाषा के साहित्य का अपना स्वतंत्र और प्रखर वैशिष्ट्य है, जो अपने प्रदेश के व्यक्तित्त्व से मुद्रांकित है। पंजाबी और सिंधी, इधर हिन्दी और उर्दू की प्रदेश-सीमाएँ कितनी मिली हुई हैं, किंतु उनके अपने-अपने साहित्य का वैशिष्ट्य कितना प्रखर है। इसी प्रकार गुजराती और मराठी का जन-जीवन परस्पर ओतप्रोत है, किंतु क्या उनके बीच में किसी प्रकार की भ्रांति संभव है। दक्षिण की भाषाओं का उद्‌गम एक है—सभी द्रविड़ परिवार की विभूतियां हैं, परन्तु क्या कन्नड़ और मलयालम या तमिल और तेलुगु के स्वारूप्य के विषय में शंका हो सकती है। यही बात बांग्ला, असमिया और उड़िया के विषय में सत्य है। बंगाल के गहरे प्रभाव को पचाकर असमिया और उड़िया अपने स्वतंत्र अस्तित्त्व को बनाये हुए हैं।

इन सभी साहित्यों में अपनी-अपनी विशिष्ट विभूतियाँ हैं। तमिल का संगम-साहित्य, तेलगु के द्वि-अर्थी काव्य और उदाहरण तथा अवधान-साहित्य, मलयालम के संदेश-काव्य एवं कीर-गीत (कलिप्पाटु) तथा मणिप्रवालम् शैली, मराठी के पवाड़े, गुजराती के आख्यान और फागु, बँगला का मंगल काव्य, असमिया के बड़गीत और बुरंजी साहित्य, पंजाबी के रम्याख्यान तथा वीरगति, उर्दू की गजल और हिंदी का रीतिकाव्य तथा छायावाद आदि अपने-अपने भाषा-साहित्य के वैशिष्ट्य के उज्ज्वल प्रमाण हैं।

पुस्तक लेखन में कई लिखित व अलिखित स्रोतों से मदद ली गई है; मैं उन सभी विज्ञ लेखकों के प्रति अपना आभार प्रकट करता हूँ। आशा करता हूँ कि पुस्तक पाठकों के लिए उपयोगी होगी।

—लेखक

अनुक्रम

	प्रस्तावना	*v*
1.	**भारतीय साहित्य**	**1**
	भारतीय साहित्य की अवधारणा	1
	विकास के चरण	7
	समान राजनीतिक आधारभूमि	7
	समान सांस्कृतिक आधारभूमि	7
	समान साहित्यिक आधारभूमि	8
2.	**संस्कृत साहित्य**	**18**
	संस्कृत साहित्य का महत्त्व	18
	ऋग्वेदसंहिता–सबसे पुराना ग्रंथ	19
	वेद, वेदांग, उपवेद	20
	दर्शनशास्त्र	21
	लौकिक साहित्य	22
	अति विस्तृत रचना-काल	25
3.	**पालि भाषा का साहित्य**	**27**
	पालि साहित्य की विकासयात्रा	27
	मूल पालि साहित्य या पिटक	28
	विनयपिटक	29
	वंश साहित्य	38
	पालि के शास्त्रीय ग्रन्थ	41

देशभेद की दृष्टि से प्राकृत भाषाओं के भेद 45
4. प्राकृत साहित्य 49
महाराष्ट्री प्राकृत 57
5. हिंदी साहित्य 62
हिंदी साहित्य का इतिहास 62
परिचय 63
संरचना 64
6. उर्दू साहित्य 77
उद्‌गम 78
शुरुआती रचनाकार 79
दक्कनी उर्दू 80
दिल्ली – लखनऊ – अकबराबाद (आगरा) 82
उर्दू गद्य 84
नया दौर 85
7. मगही साहित्य 88
मगही भाषा की प्राचीनता और क्षेत्र विस्तार 88
मगही कथा (कहानी) साहित्य 93
मगही एकांकी-नाटक 94
मगही पत्र-पत्रिकाएं 94
मगही के प्रमुख साहित्यकार 95
8. ओड़िया साहित्य 108
मध्ययुग 109
9. बंगाली साहित्य 114
प्राचीन बँगला साहित्य (950 से 1200 ई. तक) 114
मध्यकालीन बँगला साहित्य (1200 से 1800 ई. तक) 116
संक्रमणकालीन साहित्य (1200-1350) 116
प्रारंभ का मध्यकालीन साहित्य (1350 से 1607 तक) 117
आधुनिक युग के बाद 127
10. असमिया साहित्य 129
वैष्णवपूर्वकाल 129
वैष्णवकाल 130

धार्मिक कथा काव्य या संग्रह 137
11. मराठी साहित्य **139**
ज्ञानदेव तथा नामदेव 140
तुकाराम तथा रामदास 141
आधुनिक काल 143
12. तेलुगू साहित्य **149**
काल विभाजन 149
काव्यकाल (1400 से 1700) 152
संस्कृत एवं तमिल आदि का प्रभाव 157
13. तमिल साहित्य **160**
परिचय 160
नैनार और आलवार साहित्य 161
बौद्ध और जैन साहित्य 161
मध्ययुगीन भक्ति साहित्य 162
14. भारतीय लिपियाँ **165**
भारत में लिपि का उद्‌भव और विकास 165
भारतीय लिपियों की विशेषताएँ 167

1

भारतीय साहित्य

भारतीय साहित्य से तात्पर्य सन् 1947 के पहले तक भारतीय उपमहाद्वीप एवं तत्पश्चात् भारत गणराज्य में निर्मित वाचिक और लिखित साहित्य से है। दुनिया में सबसे पुराना वाचिक साहित्य आदिवासी भाषाओं में मिलता है। इस दृष्टि से आदिवासी साहित्य सभी साहित्य का मूल स्रोत है। भारतीय गणराज्य में 22 आधिकारिक मान्यता प्राप्त भाषाएँ है। जिनमें मात्र आदिवासी भाषाओं - संथाली और बोड़ो-को ही शामिल किया गया है। वर्तमान समय में भारत में मुख्यत: दो साहित्यिक पुरस्कार प्रादान किए जाते हैं, साहित्य अकादमी पुरस्कार तथा ज्ञानपीठ पुरस्कार। हिन्दी तथा कन्नड भाषाओं को आठ-आठ ज्ञानपीठ पुरस्कार प्रदान किए गये हैं। बांग्ला और मलयालम को पाँच-पाँच, उड़िया को चारय,गुजराती, मराठी, तेलुगु और उर्दू को तीन-तीन, तथा असमिया, तमिल को दो-दो और संस्कृत को एक ज्ञानपीठ पुरस्कार दिया गया है।

भारतीय साहित्य की अवधारणा

मनुष्य विविध देशकाल में भाषा, साहित्य और संस्कृति का सृजन और विकास करता आया है, जिसमें अनेक प्रकार की विविधताएँ, भिन्नताएँ और समानताएँ पाई जाती हैं। इन भिन्नताओं और समानताओं का अध्ययन क्रमश: व्यतिरेकी अध्ययन और तुलनात्मक साहित्य की दिशा में प्रेरित करता है। मैथ्यू आर्नल्ड ने इसी आधार पर तुलनात्मक विश्व साहित्य की संकल्पना प्रस्तुत की थी। उनके अनुसार आलोचक को विश्व साहित्य में, जो कुछ भी श्रेष्ठतम और महनीय है उसका अध्ययन, मनन और प्रचार करना चाहिए ताकि प्राणवान और

सत्य विचारों की धारा प्रवाहित की जा सके। ऐसा करने से विभिन्न भाषाओं के साहित्य में विद्यमान समान मूल्यों को खोजा जा सकता है।

भारतीय साहित्य की पहचान–एकता और आत्मज्ञान

विश्व साहित्य की भाँति ही तुलनात्मक अध्ययन का एक बहुत व्यापक क्षेत्र भारतीय साहित्य है। वस्तुत: साहित्य मनुष्य की आतंरिक अनुभूतियों और संवेदनाओं का अभिव्यक्त रूप होता है। यह माना जाता है कि मानव की आतंरिक भावनाएँ समान होती हैं। उसकी महसूस करने तथा भाव प्रकट करने की शक्ति भी सार्वभौमिक है। शोक, हर्ष, घृणा, क्रोध, प्रेम और वात्सल्य जैसे अनेक भाव विश्व मानव में समान पाए जाते हैं, जिसके परिणामस्वरूप साहित्य का मूलभूत ढाँचा सभी भाषाओं में एक-सा ही दिखाई देता है। यदि भारत की बात की जाए तो यह ध्यान में रखना होगा कि यह देश बहुभाषिक और बहुसांस्कृतिक देश है। अर्थात भारत की अलग-अलग भाषाओं में जो साहित्य लिखा गया है या लिखा जा रहा है। उसमें थोड़ी बहुत भिन्नता के साथ अधिकतर एकता या समानता की स्थिति दिखाई पड़ती है। विभिन्न भारतीय भाषाओं के साहित्य की यह एकता या समानता ही भारतीय साहित्य की अवधारणा का केंद्रबिंदु है। इसी के साथ पांडेय शशि भूषण शीतांशु का यह मत भी जोड़ लें तो बात और भी परिपूर्ण हो जाएगी कि 'भारतीय साहित्य का अर्थ हुआ आत्मज्ञान को सृजित करने, प्रस्तुत करने और प्रदान करने वाला साहित्य

भारतीय साहित्य का विस्तार/व्यापकता

भारतीय साहित्य का क्षेत्र बहुत विस्तृत और व्यापक है। प्रो.दिलीप सिंह के अनुसार, "भारतीय संविधान की आठवीं अनुसूची में जिन 22 भाषाओं और बोलियों का उल्लेख है, उनका साहित्य अत्यंत संवृद्ध है और यदि ऐतिहासिक दृष्टि से देखा जाए तो इन सभी भाषाओं में साहित्यिक धाराएँ लगभग समानांतर रूप में प्रवाहित मिलती हैं। इसके साथ ही इन सभी भाषाओं का राष्ट्रीय चेतना और उसमें आने वाले परिवर्तनों के साथ एक-सा संबंध रहा है तथा ये सभी राष्ट्रीय स्तर पर हो रहे परिवर्तनों से एक-सा प्रभावित रही हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि ऐतिहासिक, सामाजिक और सांस्कृतिक दृष्टि से भारत की सभी भाषाएँ और उनका साहित्य भी एकता के सूत्र में बंधा हुआ प्रतीत होता है इसीलिए भारत की इन भिन्न भाषाओं में लिखे गए साहित्य को भारतीय साहित्य

कहा गया है।" यहाँ यह जानना आवश्यक है कि साहित्यिक धारा, विचारधाराएँ, प्रवृत्तियाँ और सामाजिक सरोकार के धरातल पर भारतीय साहित्य में जो समानताएँ मिलती हैं उन्हें 'भारतीयता' (Indianness) के तत्त्व या घटक कहा जा सकता है।

भारतीय साहित्य और सामासिक संस्कृति

भारतीय साहित्य की यह अंतर्निहित भारतीयता भारत की संस्कृति का प्रतिबिंब है। भारत की सांस्कृतिक विभिन्नता में विद्यमान एकता को महात्मा गांधी, जवाहरलाल नेहरु, सर्वपल्ली राधाकृष्णन और डॉ. राजेंद्र प्रसाद आदि ने बड़ी सूक्ष्मता से पहचाना है। ऊपर से हमें भारत के अलग-अलग प्रांतों और समुदायों की संस्कृति में कुछ भेद दिखाई देते हैं, लेकिन यदि गहराई से देखा जाए तो संस्कृति के मूलाधार भारत के सभी समुदायों में समानता लिए हुए दिखाई देते हैं। यदि रीति-रिवाज, पूजा-पाठ, मेले-त्यौहार, शिष्टाचार, खानपान को संस्कृति का सामान्य आधार माना जाए तो भारतीय साहित्य की तरह ही भारतीय संस्कृति की भी अवधारणा स्पष्ट हो सकती है। मुस्लिम शासकों तथा यूरोपियन शासकों के आगमन से भारतीय संस्कृति को कुछ नए आयाम भी मिले. ऐसी स्थिति में भारतीय संस्कृति का स्वरूप केवल हिंदू संस्कृति तक सीमित न रहकर विस्तृत हुआ। ये बाहरी संस्कृतियाँ क्रमशः भारत की मूल संस्कृति में घुलने मिलने लगीं और मिली-जुली संस्कृति का अनूठा मिश्रण तैयार हुआ जिसका प्रभाव सभी भारतीय भाषाओं और उनके साहित्य पर पड़ा।

यह स्पष्ट है कि भाषा और साहित्य दोनों के भीतर उस भाषा समाज के सांस्कृतिक तत्त्व गुँथे रहते हैं। इसलिए तुलनात्मक भारतीय साहित्य का एक आयाम इन सांस्कृतिक तत्त्वों की समानता और विषमता के विवेचन का भी हो सकता है। जैसा कि राबर्ट फॉर्स्ट ने कहा था कि मनुष्य के स्वभाव में चिंतन की प्रवृत्ति के साथ साथ तुलना की प्रवृत्ति भी जैविक स्तर पर ही निहित होती है इसलिए साहित्य के क्षेत्र में भी तुलना स्वाभाविक है। तुलनात्मक भारतीय साहित्य इसी प्रवृत्ति का प्रतिफलन है।

भारतीय साहित्य–परंपरा का महत्त्व

भारतीय साहित्य के स्वरूप निर्धारण में विभिन्न भाषाओं के साहित्य की परंपरा के अध्ययन का बड़ा महत्त्व है। उदाहरण के लिए जब हम सूरदास के

काव्य का अध्ययन करते हैं तो पीछे जाकर उस परंपरा को भी देखते हैं, जो मध्यकाल में एक व्यापक प्रवृत्ति के रूप में पूरे भारत को उसकी सभी भाषाओं को प्रभावित किए हुए थी। इसी प्रकार मध्यकालीन रामकथा की परंपरा को समझने के लिए वाल्मीकि की रामायण', कालिदास के 'रघुवंश' और भवभूति के 'उत्तररामचरित' को देखना जरूरी है। यही नहीं आधुनिक काल में भी अनेक साहित्यिक कृतियाँ अपनी मूल प्रेरणा प्राचीन वाङ्गम्य से प्राप्त करती हैं। यही कारण है कि भारतीय साहित्य के आकर ग्रंथों के रूप में 'रामायण', 'महाभारत' और 'कथा सरित्सागर' का समान रूप से उल्लेख किया जाता है। परंपरा के अध्ययन से ही हम उन कारणों और परिणामों की सटीक व्याख्या कर पाते हैं, जो विभिन्न साहित्यों में पाई जाने वाली एक समान प्रवृत्तियों से जुड़े हैं। हम देखते हैं कि नवजागरण काल में सभी भारतीय भाषाओं के साहित्य में कमोबेश एक जैसी आधुनिक चेतना का प्रसार हुआ। यही वह काल था जब भारत ने सदियों पुराणी सामाजिक और राजनैतिक गुलामी के कारणों को पहचानकर उनसे मुक्त होना शुरू किया। बंगला में बंकिमचंद्र चटर्जी और रवींद्र नाथ टैगोर, हिंदी में भारतेंदु हरिश्चंद्र, तमिल में सुब्रह्मण्य भारती और तेलुगु में गुरजाडा अप्पाराव जैसे रचनाकारों की एक समान का चेतना का आधार यह नवजागरण था। इसी प्रकार जिस काल में हिंदी साहित्य छायावादी चेतना से अनुप्राणित था उसी काल में तेलुगु की भाववादी कविता भी वैसी ही चेतना से स्फूर्त थी। हिंदी में प्रगतिवाद और तेलुगु में अभ्युदय का आगमन एक साथ हुआ – अन्य सभी भारतीय भाषाओं में भी ऐसा ही हुआ। भारतीय साहित्य का अध्ययन करते हुए हम ऐसे ही समान प्रेरणा बिंदुओं, सरोकारों और प्रवृत्तियों को रेखांकित करते हैं।

कुलमिलाकर जैसा कि सर्वेपल्ली राधाकृष्णन ने आर्केस्ट्रा का दृष्टांत देकर समझाया था कि जिस प्रकार भिन्न-भिन्न वाद्य लेकर वाद्यवृंद मंच पर आता है तो उसमें भिन्नता दिखाई देती है, लेकिन जब सभी वादक अपने अपने वाद्य पर एक ही राग छेड़ते हैं तो भिन्नता का यह भाव मिट जाता है और एकता स्थापित हो जाती है। भारतीय साहित्य वस्तुतः साहित्य के माध्यम से इसी सामासिक संस्कृति अथवा भारतीयता की खोज करता है।

भूमिका

भारतवर्ष अनेक भाषाओं का विशाल देश है -उत्तर-पश्चिम में पंजाबी, हिन्दी और उर्दू, पूर्व में उड़िया, बंगाल में असमियाय मध्य-पश्चिम में मराठी

और गुजराती और दक्षिण में तमिल, तेलुगु, कन्नड और मलयालम। इनके अतिरिक्त कतिपय और भी भाषाएँ हैं, जिनका साहित्यिक एवं भाषावैज्ञानिक महत्त्व कम नहीं है- जैसे कश्मीरी, डोगरी, सिंधी, कोंकणी, तुलू आदि। इनमें से प्रत्येक का, विशेषतः पहली बारह भाषाओं में से प्रत्येक का, अपना साहित्य है, जो प्राचीनता, वैविध्य, गुण और परिमाण- सभी की दृष्टि से अत्यंत समृद्ध है। यदि आधुनिक भारतीय भाषाओं के ही सम्पूर्ण वांग्मय का संचयन किया जाये तो वह यूरोप के संकलित वाग्मय से किसी भी दृष्टि से कम नहीं होगा। वैदिक संस्कृत, संस्कृत, पालि, प्राकृतों और अपभ्रंशों का समावेश कर लेने पर तो उसका अनन्त विस्तार कल्पना की सीमा को पार कर जाता है- ज्ञान का अपार भंडार, हिंद महासागर से भी गहरा, भारत के भौगोलिक विस्तार से भी व्यापक, हिमालय के शिखरों से भी ऊँचा और ब्रह्म की कल्पना से भी अधिक सूक्ष्म।

भारतीय साहित्य की मूलभूत एकता और उसके आधार-तत्त्व

भारत की प्रत्येक भाषा के साहित्य का अपना स्वतंत्र और प्रखर वैशिष्ट्य है, जो अपने प्रदेश के व्यक्तित्त्व से मुद्रांकित है। पंजाबी और सिंधी, इधर हिन्दी और उर्दू की प्रदेश-सीमाएँ कितनी मिली हुई हैं। किंतु उनके अपने-अपने साहित्य का वैशिष्ट्य कितना प्रखर है। इसी प्रकार गुजराती और मराठी का जन-जीवन परस्पर ओतप्रोत है, किंतु क्या उनके बीच में किसी प्रकार की भ्रांति संभव है। दक्षिण की भाषाओं का उद्‌गम एक है–सभी द्रविड़ परिवार की विभूतियां हैं, परन्तु क्या कन्नड़ और मलयालम या तमिल और तेलुगु के स्वारूप्य के विषय में शंका हो सकती है। यही बात बांग्ला, असमिया और उड़िया के विषय में सत्य है। बंगाल के गहरे प्रभाव को पचाकर असमिया और उड़िया अपने स्वतंत्र अस्तित्त्व को बनाये हुए हैं।

इन सभी साहित्यों में अपनी-अपनी विशिष्ट विभूतियाँ हैं। तमिल का संगम-साहित्य, तेलगु के द्वि-अर्थी काव्य और उदाहरण तथा अवधान-साहित्य, मलयालम के संदेश-काव्य एवं कीर-गीत (कलिप्पाटु) तथा मणिप्रवालम् शैली, मराठी के पवाड़े, गुजराती के अख्यान और फागु, बँगला का मंगल काव्य, असमिया के बड़गीत और बुरंजी साहित्य, पंजाबी के रम्याख्यान तथा वीरगति, उर्दू की गजल और हिंदी का रीतिकाव्य तथा छायावाद आदि अपने-अपने भाषा-साहित्य के वैशिष्ट्य के उज्ज्वल प्रमाण हैं।

फिर भी कदाचित् यह पार्थक्य आत्मा का नहीं है। जिस प्रकार अनेक धर्मों, विचार-धाराओं और जीवन प्रणालियों के रहते हुए भी भारतीय संस्कृति की एकता असंदिग्ध है, इसी प्रकार इसी कारण से अनेक भाषाओं और अभिवयंजना-पद्धतियों के रहते हुए भी भारतीय साहित्य की मूलभूत एकता का अनुसंधान भी सहज-संभव है। भारतीय साहित्य का प्राचुर्य और वैविध्य तो अपूर्व है ही, उसकी यह मौलिकता एकता और भी रमणीय है।

जन्मकाल

दक्षिण में तमिल और उधर उर्दू को छोड़कर भारत की लगभग सभी भारतीय भाषाओं का जन्मकाल प्रायः समान ही है। तेलुगु साहित्य के प्राचीनतम ज्ञात कवि हैं नन्नय, जिनका समय है ईसा की ग्यारहवीं सती। कन्नड का प्रथम उपलब्ध ग्रन्थ है 'कविराजमार्ग', जिसके लेखक हैं राष्ट्रकूट-वंश के नरेश नृपतुंग (814-877 ई.)य और मलयालम की सर्वप्रथम कृति हैं 'रामचरितम्' जिसके विषय में रचनाकाल और भाषा-स्वरूप आदि की अनेक समस्याएँ और जो अनुमानतः तेरहवीं शती की रचना है। गुजराती तथा मराठी का आविर्भाव-काल लगभग एक ही है। गुजराती का आदि-ग्रन्थ सन् 1185 ई. में रचित शालिभद्र सुरि का 'भारतेश्वरबाहुबलिरास' है। मराठी के आदिम साहित्य का आविर्भाव बारहवीं शती में हुआ था। यही बात पूर्व की भाषाओं में सत्य है। बँगला की चर्यागीतों की रचना शायद दसवीं और बारहवीं शताब्दी के बीच किसी समय हुई होगीय असमिया साहित्य के सबसे प्राचीन उदाहरण प्रायः तेरहवीं शताब्दी के अंत के हैं, जिनमें सर्वश्रेष्ठ हैं हेम सरस्वती की रचनाएँ 'प्रहलादचरित्र' तथा 'हरिगौरीसंवाद'। उड़िया भाषा में भी तेरहवीं शताब्दी में निश्चित रूप से व्यंग्यात्मक काव्य और लोकगीतों के दर्शन होने लगते हैं।

उधर चौदहवीं शती में तो उड़िया के व्यास सारलादास का आविर्भाव हो ही जाता है। इसी प्रकार पंजाबी और हिन्दी में ग्यारहवीं शती से व्यस्थित साहित्य उपलब्ध होने लगता है। केवल दो भाषाएँ ऐसी हैं, जिनका जन्मकाल भिन्न है—तमिल, जो संस्कृत के समान प्राचीन है (यद्यपि तमिल-भाषी उसका उद्गम और भी पहले मानते हैं) और उर्दू, जिसका वास्तविक आरम्भ पंद्रहवीं शती से पूर्व नहीं माना जा सकता। हालाँकि कुछ विद्वान उर्दू का भी उद्भव 13-14 वीं शती के बाबा फरीद, अब्दुल्ला हमीद नागोरी तथा अमीर खुसरो की रचनाओं से मानने लगे हैं।

विकास के चरण

जन्मकाल के अतिरिक्त आधुनिक भारतीय साहित्यों के विकास के चरण भी प्रायः समान ही हैं। प्रायः सभी का आदिकाल पन्द्रहवीं शती तक चलता है। पूर्वमध्यकाल की समाप्ति मुगल-वैभव के अन्त अर्थात शती के मध्य में तथा सत्रोहवीं शती के मध्य में तथा उत्तर मध्याकाल की अंग्रेजी सत्ता की स्थापना के साथ होती है और तभी से आधुनिक युग का आरम्भ हो जाता है। इस प्रकार भारतीय भाषाओं के अधिकांश साहित्यों का विकास-क्रम लगभग एक-सा ही है, सभी प्रायः समकालीन चार चरणों में विभक्त हैं। इस समानांतर विकास-क्रम का आधार अत्यंत स्पष्ट है और वह है भारत के राजनीतिक एवं सांस्कृतिक जीवन का विकास-क्रम।

समान राजनीतिक आधारभूमि

बीच-बीच में व्यवधान होने पर भी भारतवर्ष में शताब्दियों तक समान राजनीतिक व्यवस्था रही है। मुगल-शासन में तो लगभग डेढ़ सौ वर्षों तक उत्तर-दक्षिण और पूर्व-पश्चिम में घनिष्ठ संपर्क बना रहा। मुगलों की सत्ता खंडित हो जाने के बाद भी यह संपर्क टूटा नहीं। मुगल-शासन के पहले भी राज्य-विस्तार के प्रयत्न होते रहे थे। राजपूतों में कोई एक छत्र भारत-सम्राट तो नहीं हुआ, किंतु उनके राजवंश भारतवर्ष के अनेक भागों में शासन कर रहे थे। शासन भिन्न-भिन्न होने पर भी उनकी सामंतीय शासन-प्रणाली प्रायः एक-सी थी। इसी प्रकार मुसलमानों की शासन प्रणाली में भी स्पष्ट मूलभूत समानता थी। बाद में अँग्रेजों ने तो केन्द्रीय शासन-व्यवस्था कायम कर इस एकता को और भी दृढ़ कर दिया। इन्हीं सब कारणों से भारत के विभिन्न भाषा-भाषी प्रदेशों की राजनीतिक परिस्थितियों में पर्याप्त साम्य रहा है।

समान सांस्कृतिक आधारभूमि

राजनीतिक परिस्थितियों की अपेक्षा सांस्कृतिक परिस्थितियों का साम्य और भी अधिक रहा है। पिछले सहस्राब्द में अनेक धार्मिक और सांस्कृतिक आंदोलन ऐसे हुए जिनका प्रभाव भारतव्यापी था। बौद्ध-धर्म के]ास के युग में उसकी कई शाखाओं और शैव-शाक्त धर्मों के संयोग से नाथ-संप्रदाय उठ खड़ा हुआ जो ईसा के द्वितीय सहस्राब्द के आरंभ में उत्तर में तिब्बत आदि तक, दक्षिण में पूर्वी घाट के प्रदेशों में, पश्चिम में महाराष्ट्र आदि में और पूर्व में प्रायःसर्वत्र

फैला हुआ था। योग की प्रधानता होने पर भी इन साधुओं की साधना में, जिनमें नाथ, सिद्ध और शैव सभी थे, जीवन के विचार और भाव-पक्ष की उपेक्षा नहीं थी और इनमें से अनेक साधु आत्माभिव्यक्ति एवं सिद्धांत-प्रतिपादन दोनों के लिए कवि-कर्म में प्रवृत्त होते थे। भारतीय भाषाओं के विकास के प्रथम चरण में इन सम्प्रदायों का प्रभाव प्रायः विद्यमान था। इनके बाद इनके उत्तराधिकारी संत-सम्प्रदायों और नवागत मुसलमानों के सूफी-संत का प्रसार देश के भिन्न-भिन्न भागों में होने लगा। संत-संप्रदाय वेदांत दर्शन से प्रभावित थे और निर्गुण भक्ति की साधना तथा प्रचार करते थे। सूफी धर्म में भी निराकार ब्रह्म की ही उपासना थी, किंतु उसका माध्यम था उत्कट प्रेमानुभूति।

सूफी-संतो का यद्यपि उत्तर-पश्चिम में अधिक प्रभुत्व था, फिर भी दक्षिण के बीजापुर और गोलकुंडा राज्यों में भी इनके अनेक केंद्र थे और वहाँ भी अनेक प्रसिद्ध सूफी संत हुए। इनके पश्चात् वैष्णव आंदोलन का आरंभ हुआ जो समस्त देश में बड़े वेग से व्याप्त हो गया। राम और कृष्ण की भक्ति की अनेक मधुर पद्धतियों की देश-भर में प्रसार हुऐ और समस्त भारतवर्ष सगुण ईश्वर के लीला-गान से गुंजारित हो उठा। उधर मुस्लिम संस्कृति और सभ्यता का प्रभाव भी निरंतर बढ़ रहा था। ईरानी संस्कृति के अनेक आकर्षक तत्त्व-जैसे वैभव-विलास, अलंकरण सज्जा आदि भारतीय जीवन में बड़े वेग से घुल-मिल रहे थे और एक नयी दरबारी या नागर संस्कृति का आविर्भव हो रहा था। राजनीतिक और आर्थिक प्रभाव के कारण यह संस्कृति शीघ्र ही अपना प्रसादमय प्रभाव खो बैठी और जीवन के उत्कर्ष एवं आनन्दमय पक्ष के स्थान पर रुग्ण विलासिता है इसमें रह गयी। तभी पश्चिम के व्यापारियों का आगमन हुआ जो अपने साथ पाश्चात्य-शिक्षा का संस्कार लाये और जिनके पीछे-पीछे मसीही प्रचारकों के दल भारत में प्रवेश करने लगे। उन्नीसवीं शती में अंग्रेजी को प्रभुत्व सारे देश में स्थापित हो गया और शासक वर्ग सक्रिय रूप से योजना बनाकर अपनी शिक्षा, संस्कृति और उनके माध्यम से प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में अपने धर्म का प्रसार करने लगा। प्राच्य और पाश्चात्य के इस संपर्क और संघर्ष से आधुनिक भारत का जन्म हुआ।

समान साहित्यिक आधारभूमि

भारत की भाषाओं का परिवार यद्यपि एक नहीं है, फिर भी उनका साहित्यिक आधारभूमि एक ही है। रामायण, महाभारत, पुराण, भागवत, संस्कृत

का अभिजात्य साहित्य-अर्थात् कालिदास, भवभूति, बाणभट्ट, श्रीहर्ष, अमरूक और जयदेव आदि की अमर कृतियाँ, पालि, प्राकृत तथा अपभ्रंश में लिखित बौद्ध, जैन तथा अन्य धर्मों का साहित्य भारत की समस्त भाषाओं को उत्तराधिकार में मिला। शास्त्र के अन्तर्गत उपनिषद्, षड्दर्शन, स्मृतियाँ आदि और उधर काव्यशास्त्र के अनेक अमर ग्रन्थ कृ नाटट्यशास्त्र, ध्वन्यालोक, काव्यप्रकाश, साहित्यदर्पण, रसगंगाधर आदि की विचार-विभूति का उपयोग भी सभी ने निरन्तर किया है। वास्तव में आधुनिक भारतीय भाषाओं के ये अक्षय प्रेरणा-स्रोत हैं, जो प्रायः सभी को समान रूप से प्रभावित करते रहे हैं। इनका प्रभाव निश्चय ही अत्यन्त समन्वयकारी रहा है और इनसे प्रेरित साहित्य में एक प्रकार की मूलभूत समानता स्वतः ही आ गई है। इस प्रकार समान राजनीतिक, सांस्कृतिक और साहित्यकि आधारभूमि पर पल्लवित-पुष्पित भारतीय साहित्य में जन्मजात समानता एक सहज घटना है।

भारतीय साहित्य - एक विहंगम् दृष्टि

सबसे पुराना जीवित साहित्य ऋग्वेद है, जो संस्कृत भाषा में लिखा गया है। संस्कृत, पालि, प्राकृत और अपभ्रंश आदि अनेक भाषाओं से गुजरते हुए आज हम भारतीय साहित्य के आधुनिक युग तक पहुँचे हैं। भारत में 30 से भी ज्यादा मुख्य भाषाएँ हैं और 100 से भी अधिक क्षेत्रीय भाषाएँ है। लगभग हर भाषा में साहित्य का प्रचुर विकास हुआ है। भारतीय भाषाओं के साहित्य में लिखित और मौखिक दोनो ही महत्त्वपूर्ण हैं। प्राचीन भारतीय साहित्य में हिन्दू धार्मिक ग्रंथो की अहम भूमिका रही। वेदों के साथ-साथ रामायण और महाभारत जैसे महाग्रंथ प्राचीन भारत में रचे गए। अन्य प्राचीन ग्रंथो में वास्तु शास्त्र, कौटिल्य अर्थ-शास्त्र, पंचतंत्र, हितोपदेश आदि प्रमुख है।

समेकित भारतीय साहित्य की अवधारणा

हिंदी के समर्थ कवि ही नहीं हैं, वे हिंदी के उन दुर्लभ लोगों में हैं, जिन्होंने अन्य भारतीय भाषाओं और हिंदी के बीच पुल बनाया है। मलयालम साहित्य की समृद्ध परंपरा का ज्ञान हम हिंदी वालों को अगर थोड़ा बहुत है तो उसमें बहुत बड़ा योगदान उमेश जी का भी है। अब सच्चिदानंद की इस बातचीत को ही ले लीजिये। भारतीय साहित्य की अवधारणा को लेकर की गई एक गंभीर बातचीत उनके सुन्दर हिंदी अनुवाद में- प्रभात रंजन (मलयालम व अंग्रेजी के

वरिष्ठ कवि एवं आलोचक के. सच्चिदानन्दन एक लब्धप्रतिष्ठ अनुवादक भी हैं। वे अंग्रेजी के प्राध्यापक होने के अतिरिक्त एक लंबे समय तक साहित्य अकादमी से जुड़े रहे हैं तथा उसके सचिव भी रहे हैं। वे मलयालम की आधुनिक व नवोत्थानवादी कविता के प्रमुख हस्ताक्षर हैं। उनके दो दर्जन से अधिक कविता-संग्रह तथा विश्व की विभिन्न भाषाओं की रचनाओं के अनुवाद के अनेक संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। उनकी खुद की रचनाओं का भी विश्व की अनेक भाषाओं में अनुवाद हुआ है। उन्हें देश - विदेश में साहित्य के विभिन्न पुरस्कारों से सम्मानित किया जा चुका है। यहाँ प्रस्तुत है समेकित भारतीय साहित्य की अवधारणा के संबन्ध में 'कल के लिए' पत्रिका में प्रकाशनार्थ उनके साथ की गई बातचीत का कवि एवं आलोचक उमेश चौहान द्वारा किया गया गया हिन्दी रूपांतरण)

प्रश्न 1. क्या भारतीय साहित्य की कोई समेकित अवधारणा निर्मित हो सकी है? यदि हां तो उसकी सामान्य विशेषताएँ क्या है?

उत्तर: अनेक विद्वानों ने भारतीय साहित्य के एक समेकित स्वरूप को स्थापित करने की कोशिश की है। डॉ. एस. राधाकृष्णन ने एक समय पर कहा था, "विभिन्न भाषाओं में लिखे जाने के बावजूद भारतीय साहित्य एक है।" उसके बाद डॉ. रामविलास शर्मा, उमाशंकर जोशी, यू. आर. अनंतमूर्ति, शिशिर कुमार दास, शेल्डान पोलॉक, वसुधा डालमिया, ए. के, रामानुजम तथा कई अन्य साहित्यिक इतिहासकारों व विद्वानों ने भी अलग-अलग तरीके से भारतीय साहित्य की एक समेकित अवधारणा होने का समर्थन किया है। मेरे सहित भारतीय साहित्य के तमाम समकालीन अध्येता (मैं स्वयं को एक स्कॉलर नहीं मानता), जिनमें गणेश डेवी व ई. वी. रामकृष्णन जैसे लोग शामिल हैं, सोचते हैं कि भारत की विभिन्न भाषाओं के साहित्य की विविधताओं को दरकिनार कर, एक एकीकृत भारतीय साहित्य की अवधारता को स्थापित करना खतरनाक होगा। यू. आर. अनंतमूर्ति ने एक अवसर पर कहा है, "जब हम भारतीय साहित्य की एकता को देखने चलते हैं तब इसकी विविधता सामने आ जाती है और जब हम इसकी विविधता को परखने चलते हैं तब इसकी एकता दिखाई देने लगती है।" यही बात सत्य के सबसे नजदीक लगती है। हालाँकि मैं निहार रंजन रे जैसे आलोचकों से सहमत नहीं हूँ, जिनके विचार में न ही हम किसी साहित्य को 'भारतीय साहित्य' कह सकते हैं और न ही किसी भाषा को 'भारतीय भाषा'. यह एक झूठी अवधारणा है, विशेषकर तब, जब हम 'यूरोपियन' जैसी किसी

भाषा के न होते हुए भी 'यूरोपियन साहित्य' की बात करते हैं या फिर एक ही भाषा अंग्रेजी में लिखे हुए साहित्य को ब्रिटिश, अमेरिकन, आस्ट्रेलियन, कनाडियन अथवा भारतीय अंग्रेजी साहित्य जैसे अलग-अलग रूपों में देखते हैं। भाषा ही साहित्य के वर्गीकरण का एकमात्र आधार नहीं होती। आलोचकों ने वर्ग, जाति, लिंग, संरचना, उत्पत्ति, सैद्धांतिकता, मनोवैज्ञानिक-विश्लेषण आदि के आधार पर साहित्य का वर्गीकरण किया है। वास्तव में हमें भारतीय साहित्य की एक समेकित अवधारणा को विकसित करने के बजाय उसके तुलनात्मक स्वरूप को सामने रखना चाहिए ताकि न तो हम भारतीय भाषाओं एवं उनके साहित्य में अन्तर्निहित एकता को नजरंदाज कर सके और न ही उनकी विविधताओं को।

प्रश्न 2. भारतीय साहित्य की एक समेकित अवधारणा किन-किन सामान्य तत्त्वों के आधार पर विकसित हो सकती है?

उत्तर: भारतीय साहित्य के सामान्य आधार है, एक-साझा परम्पराएँ, जैसे संस्कृत, प्राकृत,पाली आदि का साहित्य, दो-साझे प्रभाव, जैसे फारसी व पाश्चात्य (यूरोपियन) साहित्य का असर, तीन-समान आंदोलन, जैसे भक्ति व सूफी आंदोलन, सामाजिक सुधारवाद एवं राष्ट्रवाद, प्रगतिवाद, आधुनिकतावाद एवं अन्य सम्बद्ध या अंतर्निहित आंदोलन, जैसे दलित-विमर्श, स्त्री-विमर्श, आदिवासी-विमर्श आदि, चार-हमारे रचनाकारों के साझे सामाजिक व सांस्कृतिक सरोकार,जैसे वर्ग, जाति, वर्ण, लिंग-स्वातंत्र्य, मौलिक स्वातंत्र्य, राष्ट्रीय एकता,धर्म-निरपेक्षता आदि से जुड़ी चिन्ताएँ, पाँच - प्राचीन महाकाव्यात्मक साहित्य, जैसे रामायण, महाभारत आदि का विभिन्न भाषाओं पर पड़ा समान प्रभाव. लेकिन मैं यहाँ यह भी जोड़ना चाहूँगा कि जब हम इन बातों को बारीकी से देखते हैं तो यह भी पाते हैं कि जिस तरह से यह बातें विभिन्न भाषाओं में अभिव्यक्त होती हैं, उसमें भी काफी भिन्नता है और कुछ बातें पूरी विशिष्टताओं के साथ साझा भी नहीं होती हैं। जैसे कि पूर्वोत्तर भारत में संस्कृत महाकाव्यों का प्रभाव काफी कम रहा, विभिन्न भाषाओं में भक्ति-साहित्य की शैली अलग-अलग रही (शबद, बीजक, अभंग, वख, वचन, कीर्तन, धुन, भजन आदि) तथा आदिवासियों की भाषाओं के अपने अलग ही मौखिक अथवा श्रुत महाकाव्य एवं वाचिक परम्पराएँ हैं। जब हम सरसरी तौर पर कुछ कहते हैं तो उसमें बहुत कुछ छूट जाता है। हमें ध्यान रखना चाहिए कि प्रारम्भिक दौर के यूरोपीय इतिहासकारों ने जब भारतीय साहित्य की बात की तो उन्होंने मुख्यत: केवल संस्कृत भाषा के साहित्य की ही बात की, जबकि इन इतिहासों के लिखे

जाने के अर्थात् उन्नीसवीं शताब्दी तक देश की लगभग सभी भाषाओं में श्रेष्ठ साहित्य का सृजन हो चुका था। उन्होंने तमिल-साहित्य तक को संज्ञान में नहीं लिया जिसकी उत्पत्ति तो लगभग ढाई हजार वर्ष पुरानी है।

प्रश्न 3. क्या भारतीय साहित्य के विभिन्न भाषायी घटकों के बीच अंतर्सम्बंध बनाने में हिन्दी एक सेतु बन सकती है? अब तक इस क्षेत्र में हिन्दी ने जो भूमिका निभाई है उसके बारे में आपके क्या विचार हैं?

उत्तर: जब हम अन्य भारतीय भाषाओं के अंतर्सम्बंध की बात करते हैं तो पाते हैं कि अन्य भारतीय भाषाओं की तुलना में हिंदी में काफी खुलापन है। कुछ भारतीय भाषाओं जैसे बांग्ला, कन्नड़ व मराठी आदि में विदेशी भाषाओं से तो खूब अनुवाद होते हैं लेकिन अन्य भारतीय भाषाओं से बहुत कम. हिंदी में अनुवाद की एक लम्बी परम्परा है, लेकिन अभी भी बहुत किया जाना बाकी है। दूसरी भारतीय भाषाओं की तरह हिंदी में भी बांग्ला से अनुवाद किए जाने की प्रचुरता रही है। हिंदी में दूर-दराज की अन्य साहित्य-सम्पन्न भाषाओं जैसे असमिया, ओड़िया, तमिल, मलयालम, मणिपुरी आदि से और ज्यादा अनुवाद किए जाने की आवश्यकता है।

प्रश्न 4. भारतीय सहित्य के अंतर्सम्बंधों को मजबूत करने में कौन-कौन से तत्त्व उपयोगी हो सकते हैं? इस क्षेत्र में हिन्दी भाषा के साहित्यकारों से आपको और क्या अपेक्षाएँ हैं?

उत्तर: हमारी समस्या यह है कि हिंदी के ऐसे बहुत कम वक्ता हैं, जिन्होंने अन्य भारतीय भाषाएँ सीखी हों. इसी कारण से हिंदी से अन्य भाषाओं में तथा अन्य भाषाओं से हिंदी में अनुवाद भी प्रायः दूसरी भाषाएँ बोलने वाले लोगों द्वारा ही किए जाते हैं। इस प्रवृत्ति ने अन्य भाषा-भाषियों के बीच हिंदी के विरुद्ध काफी पूर्वाग्रह-भरी भावना पैदा की है, क्योंकि उन्हें लगता है कि अन्य भाषाएँ बोलने वाले तो हिंदी सीखते हैं, किंतु हिंदी बोलने वाले अन्य भारतीय भाषाएँ नहीं सीखना चाहते. हिंदी तथा अन्य भारतीय भाषाओं के बीच स्वस्थ सम्बंध स्थापित करने लिए यह सबसे पहली समस्या है, जिसका समाधान किया जाना चाहिए। और इसका एकमात्र समाधान इसी में निहित है कि हिंदी-भाषी प्रदेशों की स्कूली-शिक्षा में अनिवार्य रूप से तथा कड़ाई के साथ त्रिभाषा फार्मूला लागू किया जाय। प्रारम्भिक आयु में तीन भाषाएँ सीखना किसी भी बच्चे के लिए कठिन काम नहीं है। इस शर्त को पूरा किए बिना हिंदी सही मायनों में देश की सम्पर्क भाषा नहीं बन सकती है। इसी के साथ ही हिंदी में होने वाले अनुवादों

की गुणवत्ता सुनिश्चित किया जाना भी बहुत जरूरी है, क्योंकि वर्तमान में जो अनुवाद अन्य भाषा-भाषियों द्वारा हिंदी में किए जा रहे हैं, वे बहुत अच्छे और समसामयिक नहीं हैं।

प्रश्न 5. इस क्षेत्र में आप की जातीय भाषा के साहित्यकार की क्या भूमिका हो सकती है? इस क्षेत्र में सेतु निर्मित करने वाले साहित्यकारों-अनुवादकों के योगदान पर संक्षेप में प्रकाश डालें।

उत्तर: मैं यह भी जरूरी मानता हूँ कि क्षेत्रीय भाषाओं के लेखकों को भी अन्य भाषाओं का बेहतरीन साहित्य पढ़ना चाहिए तथा उसका ज्यादा से अनुवाद भी करना चाहिए। अपनी भाषा मलयालम के सम्बन्ध में मैं कह सकता हूँ कि आज हिन्दी क्षेत्र से केवल तीन ही ऐसे जीवित व्यक्ति हैं, जो मलयालम से हिन्दी में सीधे अनुवाद कर सकते हैं। ये हैं यू.के.एस. चौहान, रति सक्सेना एवं सुधांशु चतुर्वेदी. इन लोगों ने मलयालम की कुछ प्रमुख कृतियों का हिन्दी में अनुवाद किया है। इनमें से पहले दो ने कविताओं का अनुवाद किया है और तीसरे ने कथा-कृतियों का मलयालम से हिन्दी में किए गए बाकी अधिकांश अनुवाद तथा हिन्दी से मलयालम में किए गए लगभग समस्त अनुवाद ऐसे मलयालियों द्वारा ही किए गए हैं, जिन्हें हिन्दी आती है।

प्रश्न 6. राष्ट्रीय एकता के परिप्रेक्ष्य में भारतीय साहित्य की क्या सकारात्मक भूमिका हो सकती है?

उत्तर: भाषाओं और लोगों को करीब लाने में साहित्य की महती भूमिका होती है क्योंकि इसके माध्यम से ही लोगों में एक दूसरे की क्षेत्रीय संस्कृति, भौगोलिक पृष्ठभूमि, स्वभाव और रहन-सहन के बारे में समझ विकसित होती है। अगर मैं आज बंगालियों के बारे में इतना सब कुछ जानता हूँ तो वह केवल इसी कारण से है कि मैं बचपन से टैगोर, माणिक बन्दोपाध्याय, शरतचन्द्र चटर्जी, ताराशंकर बनर्जी, शंकर, जरासंधन, सुनील गंगोपाध्याय, महाश्वेतादेवी, विमलकर दिब्येन्दु पालित, आदि की मलयालम में उप्लब्ध कृतियों को पढ़ता रहा हूँ. यही बात हिन्दी के बारे में भी है। मैंने बचपन से प्रेमचन्द, यशपाल, जैनेन्द्र कुमार, निर्मल वर्मा, अज्ञेय आदि की कृतियों को मलयालम में पढ़ा है। इसी के कारण हम कोलकाता, दिल्ली और मुंबई की सड़कों बिल्डिंगों व सार्वजनिक स्थानों के बारे में इन शहरों का भ्रमण करने के पहले से ही अच्छी तरह से जान जाते हैं। इतना ही नहीं हम इन स्थानों की संस्कृति, रिश्ते-नातों व व्यवहार-विचार आदि के बारे में भी बहुत कुछ जान जाते हैं। अत: देश के विभिन्न हिस्सों के

लोगों के बीच सम्बन्धों को पुख्ता बनाने के लिए साहित्य से ज्यादा योगदान किसी और चीज का नहीं हो सकता है।

प्रश्न 7. अहिन्दी भाषियों द्वारा रचे जाने वाले हिन्दी-साहित्य को साहित्य के इतिहास में कितनी जगह मिली है? क्या आप इससे संतुष्ट हैं? इसी प्रकार विभिन्न भाषाओं के अनूदित साहित्य के योगदान के बारे में आपका क्या मूल्यांकन है?

उत्तर: मैं यह नहीं मानता कि गैर-हिन्दी भाषियों के हिन्दी-लेखन को हिन्दी-साहित्य की मुख्यधारा में कभी कोई जगह मिली है, हालाँकि उन्हें प्रोत्साहित और पुरस्कृत किए जाने की तमाम योजनाएँ हैं। यह स्थिति विचित्र लगती है, क्योंकि इसी के बरक्स भारतीय भाषा-भाषियों का अंग्रेजी साहित्य देश के साहित्य की मुख्यधारा में अपना स्थान बना चुका है, भले ही अभी कुछ अपवादों को छोड़कर उसे विश्व के अंग्रेजी-साहित्य की मुख्यधारा में स्थान न मिला हो। ऐसे गैर-हिन्दी भाषी हिन्दी-लेखकों को अपने क्षेत्र में भी समुचित सम्मान नहीं मिलता, भले ही जम्मू, नेपाल एवं राजस्थान की स्थिति कुछ भिन्न है। इसका मुख्य कारण यही है कि ज्यादातर क्षेत्रीय लेखक अपनी भाषा में ही लिखना पसन्द करते हैं और वे अंग्रेजी में तभी लिखना शु: करते हैं जब वे अपनी भाषा में अच्छ लेखन नहीं कर पाते, क्योंकि अंग्रेजी की स्वीकार्यता देश में तथा बाहर भी ज्यादा व्यापक है। यह प्रवृत्ति आगे भी बनी रहेगी और ज्यादा मजबूत होगी क्योंकि विभिन्न कारणों से नई पीढ़ी का आत्माभिव्यक्ति के लिए अंग्रेजी की ओर ज्यादा झुकाव है। ये युवा जीवन-यापन की नई परिस्थितियों, शिक्षा, पहचान तथा ज्यादा पैसे कमाने जैसे उद्देश्यों को लेकर अपनी मातृभाषा से कटे जा रहे हैं। यहाँ यह बात भी महत्त्वपूर्ण है कि ऐसे ज्यादातर लेखक सशक्त साहित्यिक विरासत वाली बांग्ला तथा मलयालम जैसी भाषाओं से निकलकर अंग्रेजी में आ रहे हैं, किन्तु साथ ही साथ इन भाषाओं में भी उत्कृष्ट साहित्य का रचा जाना जारी है। इसकी वजह इन प्रदेशों की सामान्य साहित्यिक संस्कृति भी हो सकती है। लेकिन मैं किसी बंगाली या मलयाली को महत्त्वपूर्ण हिन्दी-लेखन करते हुए नहीं देख रहा, हालाँकि उनमें से तमाम लोग हिन्दी के अच्छे ज्ञाता हैं। इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि यद्यपि हिन्दी में बड़े उत्कृष्ट लेखक हुए हैं और हिन्दी का साहित्य भी श्रेष्ठ है लेकिन हिन्दी-भाषी प्रदेशों में केरल व बंगाल जैसी वह साहित्यिक संस्कृति नहीं है, जिसमें आम लोगों द्वारा साहित्यिकारों को विशेष आदर व सम्मान दिया जाता हो। इसका एक

कारण वहाँ साक्षरता का स्तर बेहतर होना हो सकता है। अनूदित-साहित्य ने सभी भाषाओं में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। इससे नई प्रवृत्तियों, विधाओं, सोच तथा नए साहित्यिक आंदोलनों तक का जन्म हुआ है। उदाहरण के लिए देखा जाय तो हम पाते हैं कि प्रेमचन्द, यशपाल, ताराशंकर, माणिक बंदोपाध्याय आदि के अनूदित साहित्य के साथ-साथ टॉलस्टाय, दास्तोवेस्की, गोर्की, मोपासा, एमिले, जोला, बाल्जाक आदि के अनूदित साहित्य के प्रभाव ने ही काफी हद तक मलयालम-साहित्य में प्रगतिवाद को जन्म दिया। ऐसा ही आधुनिकतावाद जैसे अन्य आंदोलनों के बारे में भी हुआ।

प्रश्न 8.'भारतीय संस्कृति और हिन्दी प्रदेश' एक ऐसी पुस्तक है, जिसमें रामविलास शर्मा ने भारतीय साहित्य की अवधारणा को आकार देने की कोशिश की है। क्या आप की नजर में हिन्दी अथवा किसी अन्य भारतीय भाषा में इस तरह की कोई अन्य उल्लेखनीय पुस्तक है? इस काम को और आगे कैसे बढ़ाया जा सकता है?

उत्तर: अनेक भारतीय विद्वानों ने भारतीय साहित्य पर अंग्रेजी में पुस्तकें लिखी हैं। शिशिर कुमार दास की 'हिस्टरी ऑफ इंडियन लिटरेचर' (तीन खंड) और उमाशंकर जोशी की 'द आइडिया ऑफ इंडियन लिटरेचर' इसके दो उत्तम उदाहरण हैं। ई. वी. रामकृष्णन की 'मेकिंग इट न्यू' में हिन्दी, मराठी, गुजराती और मलयालम काव्य-साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन किया गया है। उनकी पुस्तक "लोकेटिंग इंडियन लिटरेचर' भारतीय साहित्य से सम्बन्धित लेखों का संग्रह है। मेरी खुद की भारतीय साहित्य पर तीन पुस्तकें हैं-'इंडियन लिटरेचर - पोजीशन्स एण्ड प्रपोजीशन्स', 'ऑथर्स, टेक्स्ट्स, इस्यूज' व 'इंडियन लिटरेचर-पैराडिग्म्स एण्ड प्रैक्सिस'. अक्षय कुमार की एक पुस्तक है - 'पोएट्री, पॉलिटिक्स एण्ड कल्चर'. यह सभी पुस्तकें अंग्रेजी में हैं क्योंकि आज भारतीय साहित्य के तुलनात्मक अध्ययन की लगभग सारी श्रेष्ठ कृतियाँ अंग्रेजी में लिखी जा रही हैं, जिनमें से अधिकांश गोष्ठियों व आन्थोलॉजी की देन हैं। इस तरह के अध्ययनों का अंग्रेजी में होने का एक कारण यह भी है कि आज विभिन्न भारतीय भाषाओं से सैकड़ों अनुवाद अंग्रेजी में हो रहे हैं, आन्थोलॉजी लिखी जा रही हैं और लगभग अंग्रेजी ही भारत की संपर्क भाषा बन गई है, जबकि यह भूमिका हिन्दी द्वारा निभाई जानी थी। हिन्दी ने यह मौका इसलिए गँवा दिया, क्योंकि यदि श्रेष्ठता के अहसास के कारण नहीं, तो फिर शायद अपनी शिथिलता के कारण, हिन्दी बोलने वाले लोग अन्य भारतीय भाषाएँ सीखने और उनमें

लिखने के लिए आगे नहीं आए, लेकिन मैं यहाँ एक बात और बताना चाहूँगा कि हममें से अधिकांश ने अपनी मातृभाषाओं में भी भारतीय साहित्य पर अनेक निबन्ध लिखे हैं।

उमेश कुमार सिंह चौहान

प्रश्न 9. भारतीय साहित्य की अवधारणा को विकसित करने में साहित्य अकादमी की क्या भूमिका है? उसके लिए आप के क्या सुझाव हैं? क्या इस तरह की और भी संस्थाएं हैं? क्या ऐसी अन्य संस्थाओं की जरूरत है?

उत्तर–साहित्य अकादमी ने अपनी गोष्ठियों, पाठों, परिचर्चाओं व अंग्रेजी पत्रिका 'इंडियन लिटरेचर' व हिन्दी पत्रिका 'समकालीन भारतीय साहित्य' जैसे प्रकाशनों के माध्यम से भारतीय साहित्य के बारे में काफी जानकारी पैदा की है। अकादमी ने अपनी हजारों आन्थोलॉजी की पुस्तकों, मोनोग्राफ व अनुवाद-पुस्तकों द्वारा भी यही काम किया है। लेकिन भारत इतना बड़ा देश है और भारतीय भाषाओं का इतिहास इतना सम्पन्न है कि सिर्फ एक ही संस्था आवश्यकता के अनुरूप सभी कुछ नहीं कर सकती. नेशनल बुक ट्रस्ट ने भी अपने 'आदान-प्रदान' कार्यक्रम के माध्यम से कुछ उल्लेखनीय अनुवाद प्रकाशित किए हैं। क्षेत्रीय साहित्य अकादमियाँ भी प्रायः अपनी भाषा से अंग्रेजी में और कभी-कभी हिन्दी व अन्य भाषाओं में अनुवाद कराती हैं। मेरा सुझाव है कि सभी राज्यों को इस तरह के काम के लिए अनुवाद-केन्द्र व ब्यूरो आदि स्थापित करने चाहिए। हिन्दी अकादमी जैसी संस्थाओं को ऐसे काम करने चाहिए। यदि सरकार राजभाषा पर खर्च की जाने वाली अपनी धनराशि का एक चौथाई भी अनुवाद की संस्थाएँ और अनुवाद-फंड स्थापित करने पर खर्च कर दे तो स्थिति बहुत बेहतर हो जाएगी. मुझे नहीं लगता कि हिन्दी की संस्थाओं ने भारतीय साहित्य को एक साथ लाने की कोई पर्याप्त कोशिश की है। पहले भोपाल का भारत भवन भारतीय काव्योत्सव व अनुवाद की कार्यशालाएँ आयोजित किया करता था लेकिन अशोक बाजपेयी जी के जाने के बाद वह भी अर्धमृत-सा लगता है। भारतीय साहित्य के पुस्तकालय व भंडारागारों की स्थापना, अनुवाद की परियोजनाओं का संचालन, अनुवादकों के लिए विभिन्न भाषाओं में अनुवाद का प्रशिक्षण, ऐसे अनेक कार्य हमें करने होंगे। चौबीस भारतीय भाषाओं में अनुवाद-पुस्तकें प्रकाशित कर रही साहित्य

अकादमी ही एकमात्र संस्था है, जो इस दिशा में कुछ करती हुई दिखाई पड़ रही है। वह विभिन्न प्रकार के एन्साइक्लोपीडिया, व्हूज हू, बिब्लिओग्राफी तथा प्राचीन, मध्यकालीन व आधुनिक साहित्य की आन्थोलॉजी आदि के माध्यम से भारतीय साहित्य का एक डाटाबेस भी सृजित कर रही है। लेकिन सीमित कर्मी-बल व संसाधनों के बूते केवल एक ही संस्था इस बारे में कितना कुछ कर सकती है?

2

संस्कृत साहित्य

ऋग्वेदकाल से लेकर आज तक संस्कृत भाषा के माध्यम से सभी प्रकार के वांग्मय का निर्माण होता आ रहा है। हिमालय से लेकर कन्याकुमारी के छोर तक किसी न किसी रूप में संस्कृत का अध्ययन अध्यापन अब तक होता चल रहा है। भारतीय संस्कृति और विचारधारा का माध्यम होकर भी यह भाषा अनेक -दृष्टियों से धर्मनिरपेक्ष (सेक्यूलर) रही है। इस भाषा में धार्मिक, साहित्यिक, आध्यात्मिक, दार्शनिक, वैज्ञानिक (ह्यूमैनिटी) आदि प्रायः समस्त प्रकार के वांग्मय की रचना हुई।

संस्कृत भाषा का साहित्य अनेक अमूल्य ग्रंथरत्नों का सागर है, इतना समृद्ध साहित्य किसी भी दूसरी प्राचीन भाषा का नहीं है और न ही किसी अन्य भाषा की परम्परा अविच्छिन्न प्रवाह के रूप में इतने दीर्घ काल तक रहने पाई है। अति प्राचीन होने पर भी इस भाषा की सृजन-शक्ति कुण्ठित नहीं हुई, इसका धातुपाठ नित्य नये शब्दों को गढ़ने में समर्थ रहा है।

संस्कृत साहित्य का महत्त्व

विश्वभर की समस्त प्राचीन भाषाओं में संस्कृत का सर्वप्रथम और उच्च स्थान है। विश्व-साहित्य की पहली पुस्तक ऋग्वेद इसी भाषा का देदीप्यमान रत्न है। भारतीय संस्कृति का रहस्य इसी भाषा में निहित है। संस्कृत का अध्ययन किये बिना भारतीय संस्कृति का पूर्ण ज्ञान कभी सम्भव नहीं है।

अनेक प्राचीन एवं अर्वाचीन भाषाओं की यह जननी है। आज भी भारत की समस्त भाषाएँ इसी वात्सल्यमयी जननी के स्तन्यामृत से पुष्टि पा रही हैं।

पाश्चात्य विद्वान इसके अतिशय समृद्ध और विपुल साहित्य को देखकर आश्चर्य-चकित होते रहे हैं। भारतीय भाषाओं को जोड़ने वाली कड़ी यदि कोई भाषा है तो वह संस्कृत ही है।

विश्व की समस्त प्राचीन भाषाओं और उनके साहित्य (वाग्मय में संस्कृत का अपना विशिष्ट महत्त्व है। यह महत्त्व अनेक कारणों और दृष्टियों से है। भारत के सांस्कृतिक, ऐतिहासिक, धार्मिक, अध्यात्मिक, दर्शनिक, सामाजिक और राजनीतिक जीवन एवं विकास के सोपानों की संपूर्ण व्याख्या संस्कृत वाग्मय के माध्यम से आज उपलब्ध है। सहस्राब्दियों से इस भाषा और इसके वाग्मय को भारत में सर्वाधिक प्रतिष्ठा प्राप्त रही है। भारत की यह सांस्कृतिक भाषा रही है। सहस्राब्दियों तक समग्र भारत को सांस्कृतिक और भावात्मक एकता में आबद्ध रखने को इस भाषा ने महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। इसी कारण भारतीय मनीषा ने इस भाषा को अमरभाषा या देववाणी के नाम से सम्मानित किया है।

ऋग्वेदसंहिता–सबसे पुराना ग्रंथ

ऋग्वेदसंहिता के कतिपय मंडलों की भाषा संस्कृतवाणी का सर्वप्राचीन उपलब्ध स्वरूप है। ऋग्वेदसंहिता इस भाषा का पुरातनतम ग्रंथ है। यहाँ यह भी स्मरण रखना चाहिए कि ऋग्वेदसंहिता केवल संस्कृतभाषा का प्राचीनतम ग्रंथ नहीं है - अपितु वह आर्य जाति की संपूर्ण ग्रंथराशि में भी प्राचीनतम ग्रंथ है। दूसरे शब्दों में, समस्त विश्ववाग्मय का वह (ऋक्संहिता) सबसे पुरातन उपलब्ध ग्रंथ है। दस मंडलो के इस ग्रंथ का द्वितीय से सप्तम मंडल तक का अंश प्राचीनतम और प्रथम तथा दशम मंडल अपेक्षाकृत अर्वाचीन है। ऋग्वेदकाल से लेकर आज तक उस भाषा की अखंड और अविच्छिन्न परंपरा चली आ रही है। ऋक्संहिता केवल भारतीय वाग्मय की ही अमूल्य निधि नहीं है - वह समग्र आर्यजाति की, समस्त विश्ववाग्मय की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विरासत है।

विश्व की प्राचीन प्रागैतिहासिक संस्कृतियों को जो अध्ययन हुआ है, उसमें कदाचित् आर्यजाति से संबद्ध अनुशीलन का विशिष्ट स्थान है। इस वैशिष्ट्य का कारण यही ऋग्वेदसंहिता है। आर्यजाति की आद्यतम निवासभूमि, उनकी संस्कृति, सभ्यता, सामाजिक जीवन आदि के विषय में अनुशीलन हुए हैं ऋक्संहिता उन सबका सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और प्रामाणिक स्रोत रहा है। पश्चिम के विद्वानों ने संस्कृत भाषा और ऋक्संहिता से परिचय पाने के कारण हो तुलनात्मक भाषाविज्ञान के अध्ययन को सही दिशा दी तथा आर्यभाषाओं के

भाषाशास्त्रीय विवेचन में प्रौढ़ि एवं शास्त्रीयता का विकास हुआ। भारत के वैदिक ऋषियों और विद्वानों ने अपने वैदिक वाग्मय को मौखिक और श्रुतिपरंपरा द्वारा प्राचीनतम रूप में अत्यंत सावधानी के साथ सुरक्षित और अधिकृत अनाए रखा। किसी प्रकार के ध्वनिपरक, मात्रपरक यहाँ तक कि स्वर (ऐक्सेंट) परक परिवर्तन से पूर्णत:बचाते रहने का नि:स्वार्थ भाव में वैदिक वेदपाठी सहस्राब्दियों तक अथक प्रयास करते रहे। 'वेद' शब्द से मंत्रभाग (संहिताभाग) और 'ब्राह्मण' का बोध माना जाता था। 'ब्राह्मण' भाग के तीन अंश - (1) ब्राह्मण, (2) आरण्यक और (3) उपनिषद् कहे गए हैं। लिपिकला के विकास से पूर्व मौखिक परंपरा द्वारा वेदपाठियों ने इनका संरक्षण किया। बहुत सा वैदिक वाग्मय धीरे-धीरे लुप्त हो गया है। पर आज भी जितना उपलब्ध है उसका महत्त्व असीम है। भारतीय दृष्टि से वेद को अपौरुषेय माना गया है। कहा जाता है, मंत्रद्रष्टा ऋषियों ने मंत्रों का साक्षात्कार किया। आधुनिक जगत् इसे स्वीकार नहीं करता। फिर भी यह माना जाता है कि वेदव्यास ने वैदिक मंत्रों का संकलन करते हुए संहिताओं के रूप में उन्हें प्रतिष्ठित किया। अत:संपूर्ण भारतीय संस्कृति वेदव्यास की युग-युग तक ऋणी बनी रहेगी।

इसका रचनाकाल ईसा से 5500-5200 पूर्व माना जाता है। भारतीय विद्वानों ने वेदों के रचनाकाल का आरंभ 4500 ई.पू. से माना है, परन्तु यूरोपीय विद्वान इनकी रचना का काल ईसा से 2000-1100 पूर्व मानते है।

वेद, वेदांग, उपवेद

यहाँ साहित्य शब्द का प्रयोग 'वाग्मय' के लिए है। ऊपर वेद संहिताओं का उल्लेख हुआ है। वेद चार हैं- ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद। इनकी अनेक शाखाएँ थीं जिनमें बहुत सी लुप्त हो चुकी हैं और कुछ सुरक्षित बच गई हैं, जिनके संहिताग्रंथ हमें आज उपलब्ध हैं। इन्हीं की शाखाओं से संबद्ध ब्राह्मण, अरण्यक और उपनिषद् नामक ग्रंथों का विशाल वाग्मय प्राप्त है। वेदांगों में सर्वप्रमुख कल्पसूत्र हैं, जिनके अवांतर वर्गों के रूप में और सूत्र, गृह्यसूत्र और धर्मसूत्र (शुल्बसूत्र भी है) का भी व्यापक साहित्य बचा हुआ है। इन्हीं की व्याख्या के रूप में समयानुसार धर्मसंहिताओं और स्मृतिग्रंथों का जो प्रचुर वाग्मय बना, मनुस्मृति का उनमें प्रमुख स्थान है। वेदांगों में शिक्षा-प्रातिशाख्य, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष, छंद शास्त्र से संबद्ध ग्रंथों का वैदिकोत्तर काल से निर्माण होता रहा है। अब तक इन सबका विशाल साहित्य उपलब्ध है। आज ज्योतिष की तीन

शाखाएँ-गणित, सिद्धांत और फलित विकसित हो चुकी हैं और भारतीय गणितज्ञों की विश्व की बहुत सी मौलिक देन हैं। पाणिनि और उनसे पूर्वकालीन तथा परवर्ती वैयाकरणों द्वारा जाने कितने व्याकरणों की रचना हुई जिनमें पाणिनि का व्याकरण-संप्रदाय 2500 वर्षों से प्रतिष्ठित माना गया और आज विश्व भर में उसकी महिमा मान्य हो चुकी है। पाणिनीय व्याकरण को त्रिमुनि व्याकरण भी कहते हैं, क्योंकि पाणिनि, कात्यायन और पतंजलि इन तीन मुनियों के सत्प्रयास से यह व्याकरण पूर्णता को प्राप्त किया। यास्क का निरुक्त पाणिनि से पूर्वकाल का ग्रंथ है और उससे भी पहले निरुक्तिविद्या के अनेक आचार्य प्रसिद्ध हो चुके थे। शिक्षाप्रातिशाख्य ग्रंथों में कदाचित् ध्वनिविज्ञान, शास्त्र आदि का जितना प्राचीन और वैज्ञानिक विवेचन भारत की संस्कृत भाषा में हुआ है- वह अतुलनीय और आश्चर्यकारी है। उपवेद के रूप में चिकित्साविज्ञान के रूप में आयुर्वेद विद्या का वैदिकाल से ही प्रचार था और उसके पंडिताग्रंथ (चरकसंहिता, सुश्रुतसंहिता, भेडसंहिता आदि) प्राचीन भारतीय मनीषा के वैज्ञानिक अध्ययन की विस्मयकारी निधि है। इस विद्या के भी विशाल वाग्मय का कालांतर में निर्माण हुआ। इसी प्रकार धनुर्वेद और राजनीति, गांधर्ववेद आदि को उपवेद कहा गया है तथा इनके विषय को लेकर ग्रंथ के रूप में अथवा प्रसंगतिर्गत सन्दर्भों में पर्याप्त विचार मिलता है।

दर्शनशास्त्र

वेद, वेदांग, उपवेद आदि के अतिरिक्त संस्कृत वाग्मय में दर्शनशास्त्र का वाग्मय भी अत्यंत विशाल है। पूर्वमीमांसा, उत्तर मीमांसा, सांख्य, योग, वैशेषिक और न्याय-इन छह प्रमुख आस्तिक दर्शनों के अतिरिक्त पचासों से अधिक आस्तिक-नास्तिक दर्शनों के नाम तथा उनके वाग्मय उपलब्ध हैं, जिनमें आत्मा, परमात्मा, जीवन, जगत्पदार्थमीमांसा, तत्त्वमीमांसा आदि के सन्दर्भ में अत्यंत प्रौढ़ विचार हुआ है। आस्तिक 'षड्दर्शनों के प्रवर्तक आचार्यों के रूप में व्यास, जैमिनि, कपिल, पतंजि, कणाद, गौतम आदि के नाम संस्कृत साहित्य में अमर हैं। अन्य आस्तिक दर्शनों में शैव, वैष्णव, तांत्रिक आदि सैकड़ों दर्शन आते हैं। आस्तिकेतर दर्शनों में बौद्धदर्शनों, जैनदर्शनों आदि के संस्कृत ग्रंथ बड़े ही प्रौढ़ और मौलिक हैं। इनमें गंभीर विवेचन हुआ है तथा उनकी विपुल ग्रंथराशि आज भी उपलब्ध है। चार्वाक, लोकायतिक, गार्हपत्य आदि नास्तिक दर्शनों का उल्लेख भी मिलता है। वेदप्रामण्य को मानने वाले आस्तिक और तदितर नास्तिक

के आचार्यों और मनीषियों ने अत्यंत प्रचुर मात्र में दार्शनिक वाग्मय का निर्माण किया है। दर्शन सूत्र के टीकाकार के रूप में परमादृत शंकराचार्य का नाम संस्कृत साहित्य में अमर है।

लौकिक साहित्य

कौटिल्य का अर्थशास्त्र, वात्स्यायन का कामसूत्र, भरत का नाट्यशास्त्र आदि संस्कृत के कुछ ऐसे अमूल्य ग्रंथरत्न हैं – जिनका समस्त संसार के प्राचीन वाग्मय में स्थान है।

वैदिक वाग्मय के अनंतर सांस्कृतिक दृष्टि से वाल्मीकि के रामायण और व्यास के महाभारत की भारत में सर्वोच्च प्रतिष्ठा मानी गई है। महाभारत का आज उपलब्ध स्वरूप एक लाख पद्यों का है। प्राचीन भारत की पौराणिक गाथाओं, समाजशास्त्रीय मान्यताओं, दार्शनिक आध्यात्मिक दृष्टियों, मिथकों, भारतीय ऐतिहासिक जीवनचित्रों आदि के साथ-साथ पौराणिक इतिहास, भूगोल और परंपरा का महाभारत महाकोश है। वाल्मीकि रामायण आद्य लौकिक महाकाव्य है। उसकी गणना आज भी विश्व के उच्चतम काव्यों में की जाती है। इनके अतिरिक्त अष्टादश पुराणों और उपपुराणादिकों का महाविशाल वाग्मय है, जिनमें पौराणिक या मिथकीय पद्धति से केवल आर्यों का ही नहीं, भारत की समस्त जनता और जातियों का सांस्कृति इतिहास अनुबद्ध है। इन पुराणकार मनीषियों ने भारत और भारत के बाहर से आयात सांस्कृति एवं आध्यात्मिक ऐक्य की प्रतिष्ठा का सहस्राब्दियों तक सफल प्रयास करते हुए भारतीय सांस्कृति को एकसूत्रता में आबद्ध किया है।

संस्कृत के लोकसाहित्य के आदिकवि वाल्मीकि के बाद गद्य-पद्य के लाखों श्रव्यकाव्यों और दृश्यकाव्यरूप नाटकों की रचना होती चली जिनमें अधिकांश लुप्त या नष्ट हो गए। पर जो स्वल्पांश आज उपलब्ध है, सारा विश्व उसका महत्त्व स्वीकार करता है। कवि कालिदास के अभिज्ञानशाकुन्तलम् नाटक को विश्व के सर्वश्रेष्ठ नाटकों में स्थान प्राप्त है। अश्वघोष, भास, भवभूति, बाणभट्ट, भारवि, माघ, श्रीहर्ष, शूद्रक, विशाखदत्त आदि कवि और नाटककारों को अपने अपने क्षेत्रों में अत्यंत उच्च स्थान प्राप्त है। सर्जनात्मक नाटकों के विचार से भी भारत का नाटक साहित्य अत्यंत संपन्न और महत्त्वशाली है। साहित्यशास्त्रीय समालोचन पद्धति के विचार से नाट्यशास्त्र और साहित्यशास्त्र के अत्यंत प्रौढ़, विवेचनपूर्ण और मौलिक प्रचुरसख्यक कृतियों का संस्कृत में

निर्माण हुआ है। सिद्धांत की दृष्टि से रसवाद और ध्वनिवाद के विचारों को मौलिक और अत्यंत व्यापक चिंतन माना जाता है। स्रोत, नीति और सुभाषित के भी अनेक उच्च कोटि के ग्रंथ हैं। इनके अतिरिक्त शिल्प, कला, संगीत, नृत्य आदि उन सभी विषयों के प्रौढ़ ग्रंथ संस्कृत भाषा के माध्यम से निर्मित हुए हैं, जिनका किसी भी प्रकार से आदिमध्यकालीन भारतीय जीवन में किसी पक्ष के साथ संबंध रहा है। ऐसा समझा जाता है कि द्यूतविद्या, चौरविद्या आदि जैसे विषयों पर ग्रंथ बनाना भी संस्कृत पंडितों ने नहीं छोड़ा था। एक बात और थी। भारतीय लोकजीवन में संस्कृत की ऐसी शास्त्रीय प्रतिष्ठा रही है कि ग्रंथों की मान्यता के लिए संस्कृत में रचना को आवश्यक माना जाता था। इसी कारण बौद्धों और जैनों, के दर्शन, धर्मसिद्धान्त, पुराणगाथा आदि नाना पक्षों के हजारों ग्रंथों को पालि या प्राकृत में ही नहीं संस्कृत में सप्रयास रचना हुई है। संस्कृत विद्या की न जाने कितनी महत्त्वपूर्ण शाखाओं का यहाँ उल्लख भी अल्पस्थानता के कारण नहीं किया जा सकता है। परंतु निष्कर्ष रूप से पूर्ण विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि भारत की प्राचीन संस्कृत भाषा–अत्यंत समर्थ, संपन्न और ऐतिहासिक महत्त्व की भाषा है। इस प्राचीन वाणी का वाग्मय भी अत्यंत व्यापक, सर्वतोमुखी, मानवतावादी तथा परमसंपन्न रहा है। विश्व की भाषा और साहित्य में संस्कृत भाषा और साहित्य का स्थान अत्यंत महत्त्वशाली है। समस्त विश्व के प्रच्यविद्याप्रेमियों ने संस्कृत को जो प्रतिष्ठा और उच्चासन दिया है, उसके लिए भारत के संस्कृतप्रेमी सदा कृतज्ञ बने रहेंगे।

प्रसिद्ध साहित्यिक रचनाएँ

साहित्यकार	प्रसिद्ध कृति	रचनाकाल
भरत मुनि	नाट्यशास्त्रम्	प्रथम शती
भामह	काव्यालंकार	सप्तम शतक
दण्डी	काव्यादर्श	सप्तम शती
उद्भट	काव्यालंकारसारसंग्रह	अष्ठम शती
वामन	काव्यालंकारसूत्रवृत्ति	अष्ठम शती
रुद्रट	काव्यालंकार	नवम शती
आनन्दवर्धन	ध्वन्यालोक	नवम शती
राजशेखर	काव्यमीमांसा	दशम शती
भट्टनायक	हृदयदर्पण	दशम शती

अभिनवगुप्त	अभिनवभारती,लोचनं च	दशम शती
धनंजय	दशरूपकम्	दशम शती
भोज	सरस्वतीकण्ठाभरणम् , श्रृंगाररप्रकाश	एकादश शती
महिमभट्ट	व्यक्तिविवेक	एकादश शती
क्षेमेन्द्र	औचित्यविचारचर्चा	एकादश शती
मम्मट	काव्यप्रकाश	एकादश शती
रु"यक	अलंकारसर्वस्वम्	द्वादश शती
हेमचन्द्र	काव्यानुशासनम्	द्वादश शती
जयदेव	चन्द्रालोक	त्रयोदश शती
विद्यानाथ	एकावली	त्रयोदश शती
विद्यानाथ	प्रतापरुद्रीयम्	त्रयोदश शती
विश्वनाथ	साहित्यदर्पण	त्रयोदश शती
केशवमिश्र	अलंकारशेखर	षोडश शती
अप्पयदीक्षित	कुवलयानन्द तथा चित्रमीमांसा	षोडश शती
जगन्नाथ	रसगंगाधर	सप्तदश शती
चूडामणिदीक्षित	काव्यदर्पण	सप्तदश शती

संस्कृत साहित्य की विशेषताएँ

संस्कृत साहित्य की महानता को प्रसिद्ध भारतविद जुआन मस्कारो (Juan Mascaro) ने इन शब्दों में वर्णन किया है–

Sanskrit literature is a great literature- We have the great songs of the Vedas] the splendor of the Upanishds, the glory of the Bhagvat&Gita, the vastness (100]000 verses) of the Mahabaharat, the tenderness and the heroism found in the Ramayana, the wisdom of the fables and stories of India] the scientific philosophy of Sankhya, the psychological philosophy of Vedanta, the Laws of Manu, the grammar of Panini and other scientific writings, the lyrical poetry, and dramas of Kalidas- Sanskrit literature, on the whole, is a romantic interwoven with idealism and practical wisdom, and with a passionate longing for spiritual vision-

संस्कृत साहित्य की मुख्य विशेषताएँ इस प्रकार है–

अति विस्तृत रचना-काल

संस्कृत साहित्य की रचना अति प्राचीन काल (हजारों वर्ष ईसापूर्व) से लेकर अब तक निरन्तर चली आ रही है।

अति-विस्तृत क्षेत्र

संस्कृत साहित्य की रचना भारत और भारत से बाहर के देशों में हुई है। जो पाण्डुलिपियाँ प्राप्त हुई हैं वे ऊतर-से दक्षिण और पूर्व-से-पश्चिम तक कई हजार किमी के विस्तृत क्षेत्र से हैं।

विशालता

संस्कृत साहित्य इतना विशाल और विविधतापूर्ण है कि 'संस्कृत में क्या-क्या है?' - यह पूछने के बजाय प्रायः पूछा जाता है कि 'संस्कृते किं नास्ति?' (संस्कृत में क्या नहीं है?)। अनुमान है कि संस्कृत की पाण्डुलिपियों की कुल संख्या 3 करोड़ से भी अधिक होगी, यह संख्या ग्रीक और लैटिन पाण्डुलिपियों की सम्मिलित संख्या से सौ गुना से अधिक है। यह इतनी अधिक है कि बहुत सी पाण्डुलिपियाँ अभी तक सूचीबद्ध नहीं की सकी है, उन्हे पढ़ना और उनका अनुवाद आदि करना बहुत दूर की बात है।

विविधता

संस्कृत साहित्य की विविधता आश्चर्यचकित करने वाली है। इसमें धर्म और दर्शन, नाटक, कथा, काव्य आदि तो हैं ही, इसमें गणित, खगोलशास्त्र, आयुर्वेद, रसायन विज्ञान, रसशास्त्र, विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी, शिल्प आदि में रचित ग्रन्थों की संख्या कई लाख है। इसी तरह व्याकरण, काव्यशास्त्र, भाषाविज्ञान, संगीत, कोश, कला, राजनीति, समाजशास्त्र, नीतिशास्त्र, सुभाषित के भी असंख्य ग्रन्थ हैं।

सातत्य

प्राप्त पाण्डुलिपियों से स्वयं स्पष्ट है कि भारतीय महाखण्ड पर इतने सारे दैवी एवं मानवी आपदाओं (विदेशी आक्रमणों) के बावजूद हर कालखण्ड में संस्कृत साहित्य की रचना निर्बाध होती रही।

प्रगतिशीलता

मौलिकता (originality)–किसी दूसरी भाषा से अनूदित संस्कृत के ग्रन्थों की संख्या नहीं के बाराबर है। इसके विपरीत संस्कृत के ग्रन्थों का विश्व भर में आदर था है, जिसके कारण

गम्भीरता (कमचजी)

उत्कृष्टता (excellence)–आज के युग के वैज्ञानिको ने भी यह माना हे कि नई पीढ़ी के कम्प्यूटर के लिये संस्कृत ही सर्वोतम भाषा हे।ख्क्रपया उद्धरण जोड़ें,

वैज्ञानिकता

संस्कृत साहित्य अधिकांशत: अधार्मिक (या सेक्युलर) प्रकृति का है, जिसे आज के युग के हिसाब से भी वैज्ञानिक कहा जा सकता है। उसमें गणित है, खगोलविज्ञान है, आयुर्विज्ञान (मेडिसिन) है, भाषाविज्ञान है, तर्कशास्त्र है, दर्शनशास्त्र है, रसशास्त्र (रसायन) है। गणित में भी केवल अंकगणित ही नहीं है, ज्यामिति भी है, ठोस ज्यामिति भी, बीजगणित (अल्जेब्रा) भी, त्रिकोणमिति भी और कैलकुलस भी।

3

पालि भाषा का साहित्य

पालि साहित्य की विकासयात्रा

यद्यपि त्रिपिटक में ही कुछ ऐसे उल्लेख मिलते हैं, जिनसे बुद्ध के जीवनकाल में ही धर्म के कुछ प्रकरणों के व्यवस्थित पाठ किए जाने का पता चलता है। उदाहरणार्थ, उदान में वर्णन है कि एक बार सीण नामक भिक्षु से स्वयं भगवान ने पूछा कि तुमने धर्म को कैसे समझा? इसके उत्तर में उस भिक्षु ने 16 अष्टक वर्गों को पूरे स्वर के साथ गाकर सुना दिया। इसकी भगवान ने प्रशंसा भी की। विनयपिटक आदि ग्रंथों में बहुश्रुत, धर्मधर, विनयधर, मातृकाधर तथा पंचनेकायिक, भाणक, सुत्तंतिक जैसे विशेषणों का प्रयोग मिलता है, जिनसे स्पष्ट है कि बुद्ध के उपदेशों के धारण, पारण की परंपरा उनके जीवनकाल से ही चल पड़ी थी। इस परंपरा के आधार पर बुद्ध के उपदेशों को सुव्यवस्थित साहित्यिक रूप देने के लिए तीन बार संगीतियाँ की जाने के उल्लेख चुल्लवग्ग, दीपवंश, महावंश आदि ग्रंथों में मिलते हैं। प्रथम संगीति बुद्धनिर्वाण के चार मास पश्चात् ही राजगृह में हुई, जिनमें 500 भिक्षुओं ने भाग लिया, जिसके करण वह पंचशतिका नाम से भी प्रसिद्ध है। इसकी अध्यक्षता महाकाश्यप ने की और उन्होंने बुद्ध के साक्षात् शिष्य भिक्षु उपालि से विनय संबंधी तथा स्थविर आनंद से सुत्त संबंधी प्रश्न पूछ-पूछकर अन्य भिक्षुओं के अनुमोदन से उक्त विषयों का संग्रह किया। इसी प्रकार की दूसरी संगीति बुद्ध निर्वाण के 100 वर्ष पश्चात् वैशाली में हुई जिसमें 700 भिक्षु सम्मिलित हुए और इसीलिए वह सप्तशतिका के नाम से विख्यात हुई। इसमें वैशाली के भिक्षुओं के आचरण में अनेक दोष

दिखाकर उन्हें विनय के विरुद्ध ठहराया गया और अनुमानत: विनयपिटक में विशेष व्यवस्था लाई गई। बुद्धघोष के मतानुसार तो इसी संगीति द्वारा बुद्ध वचनों का त्रिपिटक, पाँच निकाय, नौ अंग तथा चौरासी हजार धर्मस्कंधों में वर्गीकरण किया गया। तीसरी संगीति बुद्धनिर्वाण के 226 वर्ष पश्चात् सम्राट् अशोक के राज्यकाल में पाटलिपुत्र में हुई। इसकी अध्यक्षता मोग्गलिपुत्त तिस्स ने की। यह सम्मेलन नौ मास तक चला और उसमें बुद्धवचनों को अंतिम स्वरूप दिया गया। इसी बीच मोग्गलिपुत्त तिस्स ने कथावत्यु की रचना की जिसमें 18 मिथ्या दृष्टि बौद्ध संश्दायों की मान्यताओं का निराकरण किया। इस रचना को भी अभिधम्मपिटक में सम्मिलित कर लिया गया। इस संगीति का उल्लेख चुल्लवग्ग में नहीं है और न तिब्बती या चीनी महायान संप्रदाय के सहित्य में। अशोक के भाब्रू के लेख, जिसमें सात प्रकरणों के नाम भी उद्धृत हैं, उसमें, अथवा अन्य धर्मलिपियों में ऐसी किसी संगीति का कहीं कोई उल्लेख नहीं किया गया। इस कारण इसकी ऐतिहासिकता में कीथ, वैलेसर आदि विद्वानों को संदेह है। किंतु रीजडेविड्स, विंटरनित्ज तथा गाइगर आदि विद्वानों ने इसकी ऐतिहासिकता स्वीकार की है। जिस संगीति की ऐतिहासिकता के विषय में प्राचीन उल्लेख एवं आधुनि विद्वान् एकमत है, वह है वैशाली की द्वितीय संगीति। इन संगीतियों तथा अन्य प्रयत्नों के फलस्वरूप पालि त्रिपिटक का जो स्वरूप प्राप्त हुआ एवं जिस रूप में वह हमें आज उपलब्ध है, वह निम्न प्रकार है–

मूल पालि साहित्य या पिटक

मूल पालि साहित्य तीन भागों में विभक्त है, जिन्हें पिटक कहा गया है – 'विनयपिटक', 'सुत्तपिटक' और 'अभिधम्मपिटक'। इनमें से प्रत्येक पिटक के भीतर अपने अपने विषय से संबंध रखनेवाली अनेक छोटी बड़ी रचनाओं का समावेश है।

पालि के इन तीन पिटकों में ई. पूर्व छठी शती में हुए भगवान बुद्ध के विचारों और उपदेशों का एक विशेष शैली में संकलन किया गया है। तीनों पिटकों में परस्पर तारतम्य है। विषय का मूलाधार सुत्तपिटक है, जिसमें भगवान के उपदेशों को श्रोताओं को हृदयंगम कराने के लिए सरल से सरल, रोचक कथात्मक शैली का आलंबन लिया गया है। यहाँ वस्तु को संक्षेप में कहने का प्रयत्न नहीं किया गया। उद्देश्य है नई-नई बातों को सामान्य श्रोताओं के ग्रहण योग्य बनाना और इसीलिए यहाँ उपदेश के मुख्य भाग की बार-बार पुनरावृत्ति

की गई है। प्रसंगवश इन सुत्तों में तत्कालीन धार्मिक, सामाजिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों का चित्रण भी आ गया है, जो प्राचीन इतिहास की दृष्टि से बड़ा महत्त्वपूर्ण है। उदाहरणार्थ, दीघ निकाय के समंञ्ञफल सुत्त, ब्रह्मजाल सुत्त एवं महापरिनिब्बान सुत्त में बुद्ध के समसामयिक धर्मप्रवर्तकों जैसे मंखलिगोसाल, पकुधकच्चायन, अजित केस कंबलि, संजय बलट्ठिपुत्त निगंठनातपुत्त, आदि के आचार-विचारों तथा उनके द्वारा प्रवर्तित धर्म संप्रदायों की बौद्ध दृष्टि से आलोचना पाई जाती है और साथ ही उन-उन विषयों पर बौद्ध मान्यता का प्रतिपादन भी पाया जाता है। सामाजिक चित्रण सुत्तपिटक में बिखरा पड़ा है, तथापि खुद्दक निकाय के अंतर्गत जातकों में इसकी प्रचुर सामग्री उपलब्ध है। सुत्तों में स्थान-स्थान पर बुद्धकालीन मगध, विदेह, कोशल, काशी आदि 16 जनपदों के राजाओं उनके परस्पर संबंधों एवं लड़ाई-झगड़ों और दाँव-पेंचों के उल्लेख भरे पड़े हैं। सुत्तों के उपदेशों में जिस बौद्ध आचार के संकेत पाए जाते हैं, उन्हीं की भिक्षुओं के योग्य सदाचार के नियमों के रूप में विधि-निषेध-प्रणाली से व्यवस्था विनय पिटक में भी की गई है। इसी प्रकार सुत्तों में जिस तत्त्वचिंतन के बीज सन्निहित हैं, उनका दार्शनिक शब्दावली में सैद्धांतिक रूप से प्रतिपादन और विवेचन अभिधम्म पिटक में किया गया है। इस परस्पर आनुषंगिकता के कारण बौद्धधर्म का पूरा सांगोपांग एवं सुव्यवस्थित परिज्ञान बिना त्रिपिटक के अवलोकन के नहीं हो सकता। यह पालि त्रिपिटक विषय की दृष्टि से स्वयं बुद्ध भगवान के उपदेशों पर आधारित है। उपलब्ध ग्रंथ रचना की दृष्टि से ई. पूर्व तृतीय शताब्दी से पश्चात् का सिद्ध नहीं होता। बौद्ध परंपरानुसार अशोक सम्राट् के काल में ही उनके पुत्र महेंद्र स्वयं बौद्ध भिक्षु बनकर इस साहित्य को लंका ले गए और वहाँ प्रथम शती ई. में राजा बट्टगामणी के राज्यकाल में उसे वह लिखित रूप प्राप्त हुआ जिसमें वह आज हमें मिलता है। तथापि उसमें ऐसी कोई बात हमें नहीं मिलती जो बीच की दो तीन शताब्दियों के काल में लंका की परिस्थितियों के प्रभाव के कारण उसमें आई कहीं जा सके।

विनयपिटक

अपने नामानुसार विनयपिटक का विषय भिक्षुओं के पालने योग्य सदाचार के नियम उपस्थित करना है। इसके तीन अवांतर विभाग हैं – सुत्तविभंग, खंधक और परिवार। खंधक को पुनः दो उपविभाग हैं – महावग्ग और चुल्लवग्ग। इस प्रकार अपने इन उपविभागों की अपेक्षा विनयपिटक पाँच भागों में विभक्त है।

सुत्तपिटक

सुत्तपिटक अपने विषय, विस्तार तथा रचना की दृष्टि से त्रिपिटक का सबसे महत्त्वपूर्ण भाग है। इसमें ऐसे सुत्तों का संग्रह किया गया है, जो परंपरानुसार या तो स्वयं भगवान बुद्ध के कहे हुए हैं या उनके साक्षात् शिष्य द्वारा उपदिष्ट हैं और जिनका अनुमोदन स्वयं भगवान बुद्ध ने किया है। सुत्त का संस्कृत रूपांतर सूत्र किया जाता है। किंतु प्रस्तुत सुत्तों में सूत्र के वे लक्षण दृष्टिगोचर नहीं होते जो संस्कृत की प्राचीन सूत्ररचनाओं, जैसे वैदिक साहित्य के श्रौत सूत्र, गृह्य एवं धर्मसूत्र आदि में पाए जाते हैं। सूत्र का विशेष लक्षण है, अति संक्षेप में कम से कम शब्दों में अधिक से अधिक अर्थ व्यक्त करना। उसमें पुनरुक्ति का सर्वथा अभाव अविद्यमान है। किन्तु यहाँ संक्षिप्त शैली के विपरीत सुविस्तृत व्याख्यान तथा मुख्य बातों की बार-बार पुनरावृत्ति की शैली अपनाई गई है। इस कारण सुत्त का सूत्र रूपांतर उचित प्रतीत नहीं होता। विचार करने से अनुमान होता है कि सुत्त का अभिप्राय मूलत: सूक्त से रहा है। वेदों के एक एक प्रकरण को भी सूक्त ही कहा गया है। किसी एक बात के प्रतिपादन को सूक्त कहना सर्वथा उचित प्रतीत होता है।

सुत्तपिटक के पाँच भाग हैं, जिन्हें निकाय कहा गया हैं -दीघनिकाय, मज्झिमनिकाय, संयुक्तनिकाय, अंगुत्तरनिकाय और खुद्दकनिकाय। दीर्घनिकाय तीन वर्गों में विभाजित है। प्रथम सीलक्खंधवग्ग में 13 सुत्त हैं, दूसरे महावग्ग में 10 तथा तीसरे पाटिकवग्ग में 11। इस प्रकार दीर्घनिकाय में 34 सुत्त हैं। ये सुत्त अन्य निकायों में संगृहीत सुत्तों की अपेक्षा विस्तार में अधिक लंबे है और यही इस निकाय के नाम की सार्थकता है।

मज्झिमनिकाय में मध्यमविस्तार के 152 सुत्त है, जो 15 वर्गों में विभक्त हैं -

(1) मूलपरियाय (2) सीहनाद (3) ओपम्म (4) महायमक (5) चूलयमक(6) गहपति (7) भिक्खू (8) परिव्वाजक (9) राज (10) ब्राह्मण(11) देवदह (12) अनुपद (13) सुंञ्ञता (14) विभंग और (15) षडायतन।

इनमें से 14वें वर्ग विभंग में 12 सुत्त हैं और शेष सब में दस-दस।

संयुत्तनिकाय में छोटे बड़े सभी प्रकार के सुत्तों का संग्रह है और यही इस निकाय के नाम की सार्थकता है। इसमें कुल 56 सुत्त या संयुत्त हैं, जो इन पाँच वर्गों में विभाजित हैं -

(1) सगाथ (2) निदान (3) खंध (4) षडायतन और (5) महावग्ग।

अंगुत्तर निकाय की अपनी एक विशेषता है। इसमें सुत्तों का संग्रह एक व्यवस्था के अनुसार किया गया है। आदि में ऐसे सुत्त हैं, जिनमें बुद्ध भगवान के एक संख्यात्मक पदार्थो विषयक उपदेशों का संग्रह है, तत्पश्चात् दो पदार्थों विषयक सुत्तों का और फिर तीन, चार आदि। इसी क्रम से इस निकाय के भीतर एककनिपात, दुकनिपात एवं तिक, चतुवक, पंचक, छक्क, सत्तक, अट्ठक, नवक, दसक और एकादसक इन नामों के ग्यारह निपातों का संकलन है। ये निपात पुनः वर्गों में विभाजित हैं, जिनकी संख्या निपात क्रम से 21, 16, 16, 26, 12, 9, 9, 9, 22 और 3 है। इस प्रकार 11 निपातों में कुल वर्गों की संख्या 169 है। प्रत्येक वर्ग के भीतर अनेक सुत्त हैं, जिनकी संख्या एक वर्ग में कम से कम 7 और अधिक से अधिक 262 है। इस प्रकार अंगुत्तर निकाय से सुत्तों की संख्या 2308 है।

खुद्दक निकाय में विषय तथा रचना की दृष्टि से प्रायः सर्वथा स्वतंत्र 15 रचनाओं का समावेश है, जिनके नाम हैं –

(1) खुद्दक पाठ (2) धम्मपद (3) उदान (4) इतिवुत्तक (5)सुत्तनिपात (6) विमानवत्थु (7) पेतवत्थु (8) थेरगाथा (9) थेरीगाथा (10) जातक(11) निद्देस (12) पटिसंभिदामग्ग (13) अपादान (14) बुद्धवंस और (15) चरियापिटक।

अभिधम्मपिटक

पालि त्रिपिटक के तीसरे भाग अभिधम्मपिटक में भगवान बुद्ध के दर्शनात्मक विचारों का विश्लेषण और वर्गीकरण किया गया है तथा तात्विक दृष्टि से उनकी सूचियाँ और परिभाषाएँ उपस्थित की गई हैं। इस पिटक में निम्न सात ग्रंथों का समावेश है–

(1) धम्मसंगणि (2) विभंग (3) कथावत्थु (4) पुग्गलपंञ्ञत्ति (5) धातुकथा (6) यमक और (7) पठ्ठान।

धम्मसंगणि उसकी मातिका (विषयसूची) के अनुसार दो भागों में विभक्त है। प्रथम भाग में 22 तिक हैं, जिनमें से प्रत्येक में तीन तीन विषयों का विवेचन किया गया हैं। दूसरे विभाग में 100 दुक हैं और प्रत्येक दुक में विधान ओर निषेध रूप से दो दो विषयों का प्ररूपण किया गया है। ये दुक 12 वर्गों में विभाजित हैं, जिनके नाम हैं –

(1) हेतु (2) प्रत्ययादि (3) आश्रव (4) संयोजन (5) ग्रंथ (6) ओध (7) योग (8) नीवरण (9) परामर्श (10) विस्तृत मध्यम दुक (11) उपादान और (12) क्लेश।

इस प्रकार धम्मसंगणि के तिकों और दुकों की संख्या 122 है। इनमें से प्रथम तिक कुशल, अकुशल तथा अव्याकृत धर्मविषयक है, जो सबसे महत्त्वपूर्ण है और उसके विषय का प्ररूपण (1) चित्तुपपाद (2) रूप (3) निक्क्षेप और (4) अत्थुद्धार इन चार कांडों में किया गया है।

विभंग की विषयवस्तु 18 विभागों में विभाजित है।

कथावत्थु में 23 अध्यायों के भीतर 216 प्रश्नोत्तर हैं, जिनमें विरोधी संप्रदायों के सिद्धांतों का खंडन किया गया है।

पुग्गलपण्णत्ति में 10 अध्याय हैं, जिनमें क्रमशः एक एक प्रकार के, दो दो प्रकार के आदि बढ़ते क्रम में दसवें अध्याय में 10, 10 प्रकार के पुद्गलों अर्थात् व्यक्तियों का निर्देश किया गया है। व्यक्तियों का विभाजन पृथग्जन, सम्यक् संबुद्ध, प्रत्येक बुद्ध, शैक्ष्य, अशैक्ष्य, आर्य, अनार्य आदि रूप से किया गया है।

धातुकथा की रचना का मूलाधार विभंग है, क्योंकि उसी के प्रथम तीन अर्थात् स्कंध, आयतन और धातु विभंगों का ही यहाँ अधिक सूक्ष्म विवेचन किया गया है। इसी कारण इस ग्रंथ का दूसरा नाम खंब-आयतन-धातुकथा भी पाया जाता है। ग्रंथ में इन्हीं तीन का संबंध धर्मों के साथ बैठाकर बताया गया है। मातिकानुसार इन धर्मों की संख्या 125 है, जो इस प्रकार हैं -

5 स्कंध, 12 आयतन, 18 धातुएँ, 4 सत्य, 22 इंद्रियाँ, 12 प्रतीत्यसमुत्पाद, 4 स्मृतिप्रस्थान, 4 सम्यक् प्रधान, 4 ऋद्धिपाद, 4 ध्यान, 4 अपरिमाण, 5 इंद्रियाँ, 5 बल, 7 बोध्यंग, 8 आर्यमार्ग के अंग तथा स्पर्श, वेदना, संज्ञा, चेतना, चित्त और अधिमोक्ष।

इनका परस्पर संबध प्रश्नोत्तर की शैली से 14 अध्यायों में किया गया है।

यमक में धर्मों का संबंध विशेष विषयों के साथ परस्पर विपरीत रूप में प्रश्नोत्तर शैली से समझाया गया है और इसी युगल प्रश्नात्मक रीति के कारण इस रचना का यमक नाम सार्थक है। जैसे (1) क्या सभी कुशलधर्म कुशलमूल हैं? क्या सभी कुशलमूल कुशलधर्म हैं? इत्यादि। इसी पद्धति से यमक में अभिधम्मपिटक में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दों की सुनिश्चित व्याख्या देने का प्रयत्न किया गया है। यह रचना इन 10 यमकों में विभक्त है -

(1) मूल (2) खंघ (3) आयतन (4) धातु, (5) सच्च (6) संसार (7) अनुसय (8) चित्त (9) धम्म और (10) इंद्रिय।

पट्ठाण में बौद्ध तत्त्वचिंतन के आधारभूत प्रतीत्य-समुत्पाद-सिद्धांत का एक विशेष शैली में बड़े विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है। ग्रंथ के मुख्य चार भाग हैं -

(1) अनुलोम पट्ठाण (प्रत्यय स्थान), (2) पच्चनिय पट्ठाण

(3) अनुलोम-पच्चनिय-पट्ठाण और (4) पच्चनिय-अनुलोम-पट्ठाण।

इन चारों भागों में धम्मसंगणि में निर्दिष्ट 22 तिकों और 100 दुकों का 24 प्रत्ययों से संबंध निम्न छह पट्ठाणों द्वारा समझाया गया है :(1) तिक पं. (2) दुक पं. (3) दुक-तिक पं. (4) तिक-दुक पं. (5) तिक-दिक पं. और (6) दुक-दुक प. इन छह पट्ठाणों का पूर्ववत् चार विभागों में प्ररूपण होने से संपूर्ण ग्रंथ 24 पट्ठाणों में विभक्त हो जाता है।

अनुपालि या अनुपिटक

उपर्युक्त त्रिपिटक साहित्य का संकलन प्रायः ई.पू. तीसरी शती में पूर्ण हो गया था, किंतु पालि साहित्य का सृजन इसके पश्चात् भी चलता रहा। यद्यपि यह अनुपालि साहित्य विषय की दृष्टि से प्रायः पूर्णतः त्रिपिटक के अंतर्गत ज्ञान का ही अनुकरण करता है, तथापि अपन स्वरूप एवं शैली में समय की गति के अनुसार उसमें विकास दिखाई देता है। ई.पू. प्रथम शती के लगभग नेत्तिप्रकरण नामक ग्रंथ लिखा गया जिसमें अभिधम्मपिटक के विषय का ही कुछ अधिक सूक्ष्मता से विवेचन किया गया है। इसमें 16 हार, 5 नय और 18 मूल पदों के द्वारा बौद्ध दर्शन की परिभाषाओं को समझाने का प्रयत्न किया गया है। इसके कर्ता का नाम कच्चान है। इसी प्रकार की एक दूसरी रचना इसी काल के लगभग की पेटकोपदेश है, जिसमें नेत्तिप्रकरण की ही विषयवस्तु को कुछ दूसरी रीति से उपस्थित किया गया है, जिसमें प्रधानता उन चार आर्य सत्यों की है, जो बुद्ध के उपदेशों के मूलाधार हैं। प्रायः इसी काल की तीसरी रचना है - मिलिंद-पंहो जो पालि साहित्य में अपनी विशेषता रखती है व ऐतिहासिक दृष्टि से भी बड़ी महत्त्वपूर्ण है। इसमें साकल (सियालकोट, पंजाब) के नरेश मिलिंद और भिक्षु नागसेन से बीच हुआ वार्तालाप वर्णित है। मिलिंद उस यवन नरेश मिनादर के नाम का ही रूपांतर माना गया है, जिसने ई. पू. द्वितीय शती के मध्य में भारत पर आक्रमण किया तथा पंजाब प्रदेश में अपना राज्य जमाया था। प्रस्तुत ग्रंथ के

अनुसार यह राजा बड़ा विद्वान् और दार्शनिक विषयों में रुचि रखनेवाला था। उसने भिक्षु नागसेन से बड़े पैने दार्शनिक प्रश्न किए, जिसके उत्तर भी नागसेन ने बड़ी चतुराई से सुंदर दृष्टांतों द्वारा उनकी पुष्टि करते हुए दिए हैं। ग्रंथ में सात अध्याय हैं –

(1) बाहिर कथा (2) लक्खणपंहो (3) विमतिछेदन-पंहो (3) मेंडकपंहो

(5) अनुमानपंहो (6) द्युतंग कथा और (7) ओपम्म-कथा-पंहो।

इनमें से प्रथम तीन अध्याय ही ग्रंथ का मूल भाग माना जाता है। शेष चार अध्याय पीछे जोड़े गए प्रतीत होते हैं। इसके अनेक कारण हैं- एक तो तीसरे अध्याय में ग्रंथ के पुनः प्रारंभ की सूचना है, दूसरे, बुद्धघोष के अवतरण प्रायः तीन ही अध्यायों से लिए गए हैं और तीसरे इस ग्रंथ का जो चीनी अनुवाद 400 ई. के लगभग किया गया था, उसमें केवल ये तीन ही अध्याय पाए जाते हैं। यह रचना शैली में बड़ी रोचक तथा बौद्ध सिद्धांत के ज्ञान के लिए अपने ढंग की अद्वितीय है।

अट्टकथाएँ

इन रचनाओं के पश्चात् अट्ठकथाओं का युग प्रारंभ होता है। श्रुत परंपरानुसार जब महेंद्र और संघमित्र द्वारा पालि त्रिपिटक लंका में पहुँचा और बौद्धधर्म का प्रचर बढ़ा, उन मूल ग्रंथों पर सिंहली भाषा में टीका रूप अट्ठकथाएँ लिखी गई। ये अट्ठकथाएँ अब उपलब्ध नहीं है। अनुमानतः इसका कारण उन अट्ठकथाओं की रचना हो जाने से क्रमशः उन मूल अट्ठकथाओं का अध्ययन अध्यापन छूट जाना ही है। इन नई पालि अट्ठकथाओं के कर्ता आचार्य बुद्धघोष का नाम पालि साहित्य में बहुत प्रसिद्ध है। उन्होंने जिन सिंहली अट्ठकथाओं का उल्लेख किया है तथा जिनके अवतरण अपनी अट्ठकथाओं में लिए हैं, उनमें मुख्य हैं-

(1) महाअट्ठकथा (सुत्तपिटक पर), (2) महापच्चरी (अभिधम्म पर), (3) कुरुंदी (विनयपिटक पर),

(4) अंधट्ठकथा, (5) संक्षेप-अट्ठकथा और (6) समानट्ठकथा।

अंतिम चार अट्ठकथाएँ निकायों अथवा उनके किन्हीं विषयों के विशेष व्याख्यान के रूप में प्रतीत होते हैं। इन मूल अट्ठकथाओं के अभाव में यह कहना तो कठिन है कि कितने अंश में बुद्धघोष ने उनका अनुकरण किया और

कितना मौलिक रूप से किया, तथापि उनकी रचनाओं को देखने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि उन्होंने मूल अट्ठकथाओं को अपने त्रिपिटक के विशाल ज्ञान द्वारा बहुत ही पल्लवित किया होगा। उनकी अट्ठकथाएँ विनयपिटक, सुत्तपिटक एवं अभिधम्मपिटक के अधिकांश भागों पर मिलती हैं, जिनकी संख्या 16 है। इन अट्ठकथाओं के अतिरिक्त बुद्धघोष की एक विशिष्ट रचना है विसुद्धिमग्ग, जिसे बौद्ध दर्शन का ज्ञानकोश कहा जा सकता है। अट्ठकथाओं में स्वयं बुद्धघोष के कथनानुसार उन्होंने विसुद्धिमग्ग में दीघ, मज्झिम, संयुत्त और अंगुत्तर इन चारों निकायों का सार भर दिया है। श्रुत परंपरानुसार उन्होंने विसुद्धिमग्ग को अपनी अट्ठकथाओं से पूर्व उनकी रचना को अपनी योग्यता सिद्ध करने के लिए ही लिखा था। इस ग्रंथ में कुल 23 परिच्छेद हैं। प्रथम दो परिच्छेदों का विषय है 'समाधि' और शेष परिच्छेदों में 'प्रज्ञा' का व्याख्यान किया गया है।

बुद्धघोष के पश्चात् अट्ठकथाओं की परंपरा को उनके प्रायः समसामयिक दो आचार्यों बुद्धदत्त और धम्मपाल ने परिपुष्ट किया। बुद्धदत्त ने बुद्धघोष कृत समंतपासादिका नामक विनयपिटक की अट्ठकथा का सार अपनी उत्तरविनिश्चय और विनयविनिश्चय नामक दो पद्यात्मक रचनाओं में उपस्थित किया तथा बुद्धघोष की अभिधम्म की अट्ठकथाओं के आधार पर अभिधम्मावतार नामक गद्य-पद्य-मिश्रित ग्रंथ की रचना की। इसमें मौलिकता यह है कि जहाँ बुद्धघोष ने रूप, वेदनादि पाँच स्कंधों के द्वारा धर्मों का विवेचन किया है, वहाँ बुद्धदत्त ने चित्तर, चेतसिक, रूप और निर्वाण इस चार प्रकार के वर्गीकरण को अपनाया है। इसी वर्गीकरण को उन्होंने अपनी रूपारूप विभाग नामक रचना में रखा है। बुद्धदत्त की एक और रचना है मधुरत्थ विलासिनी, जो बुद्धवंस की अट्ठकथा है। धम्मपाल ने सात अट्ठकथाएँ लिखी है। खुद्दकनिकाय के अंतर्गत जिन उदान, इतिषुत्तक, विमानवत्थु, पेतवत्थु, थेरगाथा, थेरीगाथा एव चरियापिटक नामक ग्रंथों पर बुद्धघोष ने अट्ठकथाएँ नहीं लिखीं, उन पर धम्मपाल ने परमत्थदीपनी नामक अट्ठकथा लिखी है। इसी प्रकार नेत्तिप्रकरण पर अत्थसंवण्णणा और उसी पर लीनत्थवण्णणा नामक टीका, विसुद्धिमग्ग पर परमत्थमंजूषा, बुद्धघोष की चार निकायों की अट्ठकथाओं पर लीनत्थपकासिनी नामक टीका, जातकट्ठकथा की टीका तथा बुद्धदत्त कृत मधुरत्थविलासिनी की टीका लिखी। इन सब रचनाओं में सबसे अधिक प्रसिद्ध है उनकी विसुद्धिमग्ग की टीका। शेष रचनाओं में कोई वैशिष्ट्य नहीं है। यद्यपि उक्त त्रिपिटक व उनकी अट्ठकथाओं की रचना के पश्चात् नहीं है। यद्यपि उक्त त्रिपिटक व उनकी अट्ठकथाओं की रचना के

पश्चात् बुद्धवचन के संबंध में अधिक कुछ कहना शेष नहीं रहा, तथापि इस अट्ठकथा नामक टीका साहित्य की रचना बुद्धघोष युग (ई. 400 से 1100 तक) में बराबर होती रही। इनमें से कुछ रचनाएँ इस प्रकार हैं –

आनंदकृत अभिधम्म मूल टीका, चुल्लधम्मपाल कृत 'सच्च संक्षेप' (सत्य संक्षेप), उपसेन कृत सद्धम्मप्पजोतिक (निद्देस की टीका) महानाम कृत सद्षम्मप्पकासिनी (पटिसंभिदामग्ग की टीका), कस्सप कृत माहविच्छेदनी और विमतिच्छेदनी, वज्रबुद्धि कृत संमतवपासादिका की टीका, क्षेम कृत खेमप्पकरण, अनिरुद्ध कृत अभिधम्मत्थ संगहो परमत्थविनिश्चय और नामरूपपरिच्छेद, धर्मश्री कृत खुद्दकसिक्खा (विलय संबंधी अट्ठकथा) और महास्वामी कृत मूलसिक्खा।

12वीं शती से अट्ठकथाओं पर मागधी (पालि) भाषा में ही टीकाओं की रचना प्रारंभ हुई। इस कार्य की सुव्यवस्था के लिए लंका नरेश पराक्रमबाहु प्रथम (ई. 1153-86) के काल में सिंहली स्थविर महाकस्सप द्वारा एक संगीति की गई, जिसके फलस्वरूप समंतपासादिका आदि अट्ठकथाओं पर दीपानी, मंजूसा, पकासिनी आदि नामों से आठ टीकाएँ लिखी गई, जिनमें से अब केवल विनयपिटक की समंतपासादिका अट्ठकथा पर लिखी गई, सारत्थदीपनी टीका मात्र मिलती है। इसके कर्ता सारिपुत्त की तीन अन्य टीकाएँ भी मिलती हैं-

(1) लीनत्थपकासिनी- मज्झिमनिकाय की अट्ठकथा पर,

(2) विनयसंग्रह और

(3) सारत्थमंजूसा- अंगुत्तरनिकाय की अट्ठकथा पर।

सुमंगल, सद्धम्मजोतिपाल, धम्मकीर्ति, बुद्धरविखत और मेघंकर - इन सभी ने भिन्न-भिन्न अट्ठकथाओं पर टीकाएँ लिखी है। इनमें अकेले वाचिस्सर थेर के मूल सिक्खा टीका आदि दस टीका ग्रंथ मिलते हैं। 13वीं शती में स्थविर विदेह, बुद्धप्रिय और धर्मकीर्ति द्वारा समंतकूटवण्णणा आदि अनेक ग्रंथों की रचना हुई। 14वीं शती की रचनाओं में चार काव्य ग्रंथ प्रसिद्ध हैं-

(1) मेधंकर कृत लाकप्पदीपसार (2) पंचगतिदीपन (3) सद्धम्मोपायन और (4) तेलकटाह गाथा।

बाद की तीन रचनाओं के कर्ताओं के नाम अज्ञात हैं।

14वीं शती के पश्चात् पालि-साहित्य-सृजन का क्षेत्र लंका से उठकर ब्रह्मदेश में पहुँच गया। यहाँ के साहित्यकारों ने अभिधम्म को विशेष रूप से अध्ययन का विषय बनाया। 15वीं शती की कुछ रचनाएँ हैं-

अरियवंस कृत मणिसारमंजूसा,
मणिदीप और जातक विबोधन,
सद्धम्मसिरि कृत नेत्तिभावनी,
सीलवंस कृत बुद्धालंकार तथा
रट्ठसारकृत जातकों के काव्यात्मक रूपांतर।

16वीं शती में सद्धम्मालंकार ने पट्ठाण प्रकरण पर पट्ठाणदीपनी नामक टीका लिखी तथा महानाम से आनंदकृत अभिधम्म-मूल-टीका पर मधुसारत्थ दीपनी नामक अनुटीका लिखी। 17वीं शती में त्रिपिटकालंकार ने अट्ठसालिनी पर की बीस गाथाओं में वीसतिवण्णणा, सारिपुत्तकृत विनयसंग्रह पर विनयालंकार नामक टीका तथा यसवड्ढनवत्थु इन तीन ग्रंथों की रचना की। त्रिलोकगुरु ने चार ग्रंथ रचे-

(1) धातुकथा-टीका-वण्णणा
(2) धातुकथा-अनंटीका-वण्णणा
(3) यमकवण्णणा और
(4) पट्ठाणवण्णणा।

सारदस्सी कृत धातुकथायोजना और महाकस्सप कृत अभिधम्मत्थगंठिपद (अभिधर्म के कठिन शब्दों की व्याख्या) इस शती की अन्य दो रचनाएँ हैं।

18वीं शती की ज्ञानामिवंशनामक ब्रह्मदेस के संघराज की तीन रचनाएँ प्रसिद्ध हैं-

(1) पेटकालंकार-नेत्ति-प्रकरण की टीका,
(2) साधुविलासिनी दीर्घनिकाय की कुछ व्याख्या और
(3) राज-धिराजविलासिनी नामक काव्य।

19वीं शती की ब्रह्मदेश की कुछ रचनाएँ हैं- नलाटधातु वंस, संदेस कथा सीमाविवादविनिश्चय आदि। इस शती के छकेसधातुवंस, गंधवंस और सासनवंस नामक रचनाओं का परिचय वंस साहित्य के अंतर्गत दिया गया है। इस शती की अन्य उल्लेखनीय रचना है भिक्षु लेदिसदाव कृत अभिधम्मसंग्रह की परपत्थदीपनी टीका तथा यमक संबंधी पालि निबंध जो उन्होंने श्रीमती राइस डेविड्ज की कुछ शंकाओं के समाधान के लिए लिखा था।

पालि-साहित्य-रचना की अविच्छिन्न धारा के प्रमाणस्वरूप 20वीं शती की दो रचनाओं का उल्लेख करना अनुचित न होगा। ये हैं भारतवर्ष में भंदत धर्मानंद कोसांबी द्वारा रचित विसुद्धिमग्गदीपिका और अभिधम्मत्थसंग्रह की

नवनीत टीका। इस परिचय के आधार से कहा जा सकता है कि पालिसाहित्य-निर्माण की धारा ढाई हजार वर्ष के पश्चात् भी अभी तक विच्छिन्न नहीं हुई।

वंश साहित्य

दीपवंश

लंका में जिस समय त्रिपिटक पर अट्ठकथाओं की रचना की जा रही थी, उसी समय दूसरी ओर कुछ ग्रंथकारों में ऐतिहासिक रुचि जाग्रत हुई जिसके परिणामस्वरूप दीपवंश की रचना की गई। इन ग्रंथों में लंका का इतिहास, प्राचीनतम काल से लेकर राजा महासेन के राज्यकाल (ई. 325-352) तक, वर्णन किया गया है। इस रचना का उपयोग बुद्धघोष ने अपनी अट्ठकथाओं में प्रचुरता से किया है और कहीं-कहीं उसके अवतरण भी दिए हैं। इस प्रकार दीपवंस का रचनाकाल ई. चौथी पाँचवीं शती के बीच सिद्ध होता है। सिंहल के राजाओं के साथ-साथ यहाँ बुद्ध के जीवन, उनके शिष्यों की परंपरा एवं तीनों संगीतियों आदि का विवरण कुछ बढ़ा चढ़ाकर किया गया है। अनुमानतः इसके विषय का आधार उपर्युक्त सिंहली अट्ठकथाएँ रही हैं। यह रचना पालि-गद्य-मिश्रित है, शैली बहुत कुछ शिथिल है, पुनरुक्तियाँ भी बहुत है और रचना भाषा, छंद आदि के दोषों से मुक्त नहीं है। ये लक्षण उसकी प्राचीनता के द्योतक हैं और इस बात के प्रमाण हैं कि उसमें विषयवस्तु अनेक स्रोतों से संकलित की गई है तथा उसमें संपादकीय व्यवस्था लाने का कोई विशेष प्रयत्न नहीं किया गया। किंतु ऐतिहासिक दृष्टि से लंका में आदि से ही इसका बड़ा आदर रहा है। कहा जाता है कि ई. 5वीं शती में ही सिंहल राजा धातुसेन ने एक वार्षिकोत्सव के अवसर पर राष्ट्रीय गौरव के साथ इसका पाठ कराया। भारतीय ऐतिहासिक रचनाओ में दीपवंस निःसदेह एक प्रचीनतम रचना है।

महावंश

दीपवंश की रचना से कुछ काल पश्चात् महानाम के द्वारा महावंश की रचना हुई। इसका मूलाधार भी वे ही सिंहल की अट्ठकथाएँ तथा दीपवंश है। यहाँ विषय का प्रतिपादन दीपवंश की अपेक्षा अधिक विशद और व्यवस्थित है। भाषा भी अपेक्षाकृत अधिक परिमार्जित और शैली तो कहीं कहीं महाकाव्यों की पद्धति का स्मरण कराती है। महावंश का मूल भाग 37 परिच्छेदों का है और वह

दीपवंश के समान महासेन के शासनकाल पर समाप्त होता है। प्रारंभ के परिच्छेदों में, जो लंका में बौद्धधर्म के आगमन से पूर्व देश की धार्मिक परिस्थितियों के उल्लेख आए हैं, वे ऐतिहासिक दृष्टि से बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। उदाहरणार्थ, पांडकामय नरेश का राज्यकाल महेंद्र द्वारा लंका में बौद्धधर्म के प्रवेश से 60 वर्ष पूर्व तक रहा कहा गया है। इस राजा ने 70 वर्ष राज्य किया तथा राज्य के 10वें वर्ष में ही अनुराधापुर नगर की स्थापना की। इससे आगे इस रचना में समय-समय पर परिवर्धन किया गया है। 37वें परिच्छेद की 50वीं गाथा से आगे 79वें परिच्छेद तक की रचना स्थविर धर्मकीर्ति कृत है और उसमें महासेन के काल से लेकर पराक्रमबाहु प्रथम (ई. 1240-75) तक 78 राजाओं की वंशपरंपरा दी गई है। महावंश का यह तथा इससे आगे के परिच्छेद चूलवंश कहलाता है। चूलवंश 80 से 90 तक के 11 परिच्छेदों के रचयिता बुद्धरक्षित भिक्षु ने आगामी 23 राजाओं का वर्णन किया जो पराक्रमबाहु चतुर्थ तक आया। 91 से 100 तक के 10 परिच्छेद सुमंगल थेर द्वारा रचे गए और उनमें भुवनेकबाहु तृतीय से लेकर कीर्तिश्री राजसिंह के काल (लग. ई. 1785) तक के 24 राजाओं का वर्णन किया। यहाँ लंका में ईसाई धर्म के प्रचार की भी सूचना मिलती है। अगला 101वाँ परिच्छेद सुमंगलाचार्य तथा देवरक्षित द्वारा रचा गया। तत्पश्चात् वहाँ का राज्य अंग्रेजों के हाथ में चले जाने की भी सूचना है। महावंश का अंतिम परिवधर्न भिक्षु प्रज्ञानंद नायक द्वारा 1936 में प्रकाशित हुआ और इसमें 1815 से 1935 ई. तक का लंका का इतिहास समाविष्ट किया गया है। इस प्रकार महावंश की रचना में छह ग्रंथकारों का हाथ है, जिनके द्वारा इसमें भगवान बुद्ध से लेकर लगभग ढाई हजार वर्षों का लंका का इतिहास अविच्छिन्न रूप से अंकित किया गया है। यह ग्रंथ इस बात का भी प्रतीक है कि उक्त दीर्घ काल तक लंका में पालि भाषा को किस प्रकार जीवित रखा गया और उसमें साहित्यिक रचना की धारा को कभी सूखने नहीं दिया गया।

अन्य वंश ग्रन्थ

दीपवंश और महावंश रचनाओं ने तीव्र ऐतिहासिक वृत्ति जाग्रत की। परिणामतः अनेक अन्य वंश नामक ग्रंथ रचे गए। इसमें ऐतिहासिक तथ्य तो प्रायः उक्त दोनों ग्रंथों से ही लिए गए हैं, किंतु उनमें जो नाना विषयों की श्रुतिपरंपरा को एकत्र कर दिया गया है, वह महत्त्वपूर्ण है। इनमें विषय को महत्त्व देने के लिए बहुत कुछ अतिशयोक्तियों और कल्पनाओं का भी आश्रय लिया गया है,

जिसके कारण कहीं कहीं इतिहासज्ञ को उद्वेग या अश्रद्धा उत्पन्न होने लगती है। इस प्रकार की मुख्य रचनाएँ ये हैं–

(1) महाबोधिवंस भिक्षु उपतिस्स द्वारा गद्य में 11वीं शती में लिखा गयाय इसमें बोधिवृक्ष का इतिहास दिया गया है और उसके साथ बुद्धधर्म एवं उसकी संगीतियों, महेंद्र के लंकागमन और वहाँ चौत्यनिर्माण आदि का भी विवरण है।

(2) 13वीं शती में भिक्षु सारिपुत्त के शिष्य वाचिस्सर ने गद्य में थूपवंस की रचना की, जिसमें बुद्ध की धातुओं पर निर्मित स्तूपों का इतिहास दिया गया है। ग्रंथकार के मतानुसार तथागत, प्रत्येक बुद्ध, तथागत के शिष्य एवं चक्रवर्ती राजाओं के अवशेष जिन चौत्यों में रखे जाते हैं, वे स्तूप कहलाते हैं। बुद्ध के अवशेष आदि राजगृह, वैशाली आदि आठ स्थानों में रखे गए। किंतु मगधराज अजातशत्रु ने उन सबको एकत्र कर राजगृह के महास्तूप में ही रखा। अशोक ने इनका पुनः विभाजन कर भिन्न-भिन्न स्थानों पर 84 हजार स्तूप बनवाए। लंका में देवानापिय तिस्स के बौद्ध धर्म स्वीकार कर लेने तथा उनकी भतीजी अनुलादेवी की प्रव्रज्या संघमित्र के हाथों संपन्न हो जाने पर संपूर्ण लंका द्वीप में एक एक योजन के अंतर पर स्तूप बनवाए गए, इत्यादि।

(3) दाठावंस 13वीं शती में सारिपुत्त के शिष्य महास्थविर धर्मकीर्ति द्वारा पद्य में रचा गया। यह रचना पांडित्यपूर्ण है। इसमें विषय का विस्तार प्रायः थूपवंश के ही समान है, केवल यहाँ बौद्ध धर्म का इतिहास भगवान बुद्ध के दाँत के साथ गूँथा गया है।

(4) हत्थवनगल्ल विहारवंस भी 13वीं शती की गद्यपद्यात्मक रचना है, जिसके 11 अध्यायों में से प्रथम आठ में लंका नरेश श्री संबोधि का वर्णन है एवं अंतिम तीन अध्यायों में उनके द्वारा निर्मापित विहारों का जिनमें से एक अति सुप्रसिद्ध अत्तनगलु विहार या हत्थवनगलु विहार भी था।

(5) 14वीं शती में महामंगल भिक्षु द्वारा बुद्धधोसुप्पत्ति के नाम से बुद्धघोष का जीवनचरित् लिखा गया। इसका तथ्यात्मक अंश उतना ही है, जितना महावंश आदि में पाया जाता है। बुद्धघोष के जन्म, बाल्यकाल, शिक्षा, दीक्षा आदि विषयक वर्णन प्रायः कल्पित हैं।

(6) 14वीं शती की एक अन्य रचना सद्धम्मसंगह है, जिसके कर्ता महास्वामी धर्मकीर्ति हैं। इसमें आदि से लेकर 13वीं शती तक के बौद्धधर्म एवं

भिक्षुसंघ का इतिहास देने का प्रयत्न किया गया है। कर्ता ने त्रिपिटक के ग्रंथों के उल्लेख भी दिए हैं। कब, किन देश प्रदेश में धर्मप्रचार के लिए भिक्षु भेजे गए इसका यहाँ विस्तृत वर्णन पाया जाता है। ग्रंथ में कुल 40 गद्य पद्यात्मक अध्याय हैं। नौवें अध्याय में बहुत से ग्रंथों और ग्रंथकारों के भी उल्लेख आए हैं। 14वीं शती के पश्चात् लंका में इस प्रकार की कोई विशेष ग्रंथरचना नहीं पाई जाती। किंतु इस प्रणाली के तीन ग्रंथ 19वीं शती में ब्रह्मदेश में लिखे गए मिलते हैं। किसी एक भिक्षु ने गद्य-पद्य-मिश्रित सरल शैली में भगवान बुद्ध के छह केशों के ऊपर निर्माण कराए गए स्तूपों का वर्णन छकेस धातुवंस नामक ग्रंथ में किया है। इस शती की विशेष महत्त्वपूर्ण रचना है।

(7) गंधवंस (ग्रंथवंश), जिसमें महाकच्चान से लेकर नागिताचार्य तक के 56 ग्रंथकारों तथा उनकी रचनाओं का परिचय दिया गया है। इनके अतिरिक्त कोई 30 ग्रंथ ऐसे भी उल्लखित हैं, जिनके कर्ताओं के नाम नहीं दिए गए। यह ग्रंथ बड़ी सावधानी से लिखा गया प्रतीत होता है। 19वीं शती की एक और रचना है

(8) शासनवंश, जिसे कर्ता भिक्षु प्रज्ञास्वामी हैं। यहाँ बुद्धकाल से लेकर 19वीं शती तक के स्थविरवादी बौद्धधर्म का इतिहास 10 अध्यायों में दिया गया है, जो विशेष महत्त्वपूर्ण है।

उक्त ग्रंथों में अधिकांश भाग प्राचीन त्रिपिटक, उनकी अट्ठकथाओं तथा महावंश के अंतर्गत वार्ता की सक्षेप या विस्तार से पुनरावृत्ति मात्र है। किंतु फिर भी उनमें अपने अपने विषय की कुछ मौलिकता भी है, जिसके आधार से हमें उक्त विषयों का कुछ इतिहास बुद्धकाल से लगाकर अब तक का अविच्छिन्न रूप में प्राप्त होता है। यह पालि साहित्य की अपनी विशेषता है, जो संस्कृत प्राकृत में नहीं पाई जाती।

पालि के शास्त्रीय ग्रन्थ

पालि में समय-समय पर शास्त्रीय ग्रंथ भी रचे गए हैं। व्याकरण के क्षेत्र में कच्चान और मोग्गल्लान कृत, व्याकरण एवं उनकी टीकाएँ प्रसिद्ध हैं। सन् 1154 ई. में ब्रह्मदेश के भिक्षु अग्गवंस कृत सद्दनीति, कच्चान के व्याकरण पर आधारित पालि भाषा का व्याकरण है। इसके तीन भाग हैं- पदमाला, धातुमाला और सुत्तमाला। इसी पर आधारित जिनरत्न भिक्षु कृत धात्वर्थदीपनी नामक

पद्यबद्ध धातुसूची है। पालि व्याकरण विषयक अन्य कुछ रचनाएँ हैं- सद्धम्मगुरु कृत सद्दबुत्ति, मंगलकृत गंधट्ठी और सामनेर धम्मदस्सी कृत वच्चवाचक (14वीं शती), अरियवंश कृत गंधाभरण (15वीं शती), ब्रह्मदेश के नरश क्यच्चा की पुत्री कृत विभक्त्यर्थप्रकरण (15वीं शती), जंबूध्वज कृत संवण्णणानय-दीपना और निरुत्तिसंगह (17वीं शती), राजगुरु कृत कारकपुप्फमंजरी (18वीं शती)।

पालि के 'अभिधानप्पदीपिका' और 'एकक्खर कोश' ये कोश ग्रंथ सुप्रसिद्ध हैं।

पालि छंद:शास्त्र पर भी अनेक रचनाएँ हैं, जैसे वृत्तोदय, छंदोविचिति और कविभारप्रकरण आदि। इनमें थर संघरविखत कृत (12वीं शती) वृत्तोदय ही सबसे अधिक प्रसिद्ध है। इसपर वचनत्वजोतिका नामक टीका भी लिखी गई। इन्हीं संघरविखत कृत पालि काव्यशास्त्र पर भी एकमात्र रचना है- सुबोधालंकार।

पालि भाषा

पालि प्राचीन उत्तर भारत के लोगों की भाषा थी जो पूर्व में बिहार से पश्चिम में हरियाणा-राजस्थान तक और उत्तर में नेपाल-उत्तरप्रदेश से दक्षिण में मध्य प्रदेश तक बोली जाती थी। भगवान बुद्ध भी इन्हीं प्रदेशो में विहरण करते हुए लोगों को धर्म समझाते रहे। आज इन्ही प्रदेशों में हिन्दी बोली जाती है। इसलिए, पाली प्राचीन हिन्दी है। यह हिन्द-यूरोपीय भाषा-परिवार में की एक बोली या प्राकृत है। इसको बौद्ध त्रिपिटक की भाषा के रूप में भी जाना जाता है। पाली, ब्राह्मी परिवार की लिपियों में लिखी जाती थी।

'पालि' शब्द का निरुक्त

पालि शब्द की व्युत्पत्ति के सम्बंध में विद्वानों के नाना मत पाए जाते हैं। किसी ने इसे पाठ शब्द से तथा किसी ने पायड (प्राकृत) से उत्पन्न करने का प्रयत्न किया है। एक जर्मन विद्वान् मैक्स वैलेसर ने पालि को 'पाटलि' का संक्षिप्त रूप बताकर यह मत व्यक्त किया है कि उसका अर्थ पाटलिपुत्र की प्राचीन भाषा से है। इन व्युत्पत्तियों की अपेक्षा जिन दो मतों की ओर विद्वानों का अधिक झुकाव है, उनमें से एक तो है पं विधुशेखर भट्टाचार्य का मत, जिसके अनुसार पालि, पंक्ति शब्द से व्युत्पन्न हुआ है। पंक्ति को मराठी में पाळी बोलते है और मराठी मे और संस्कृत में पालन शब्द भी है, जिसका मतलब है, जिसका लोग पाल-पोसकर बढ़ा करते है या पालन का मतलब जिसका नियम के

अनुसार अवलंब या इस्तेमाल किया जाता है। इस मत का प्रबल समर्थन एक प्राचीन पालि कोश अभिधानप्पदीपिका (12वीं शती ई.) से होता है, क्योंकि उसमें तंति (तंत्र), बुद्धवचन, पंति (पंक्ति) और पालि इन शब्दों मे भी स्पष्ट ही पालि का अर्थ पंक्ति ही है। पूर्वोक्त दो अर्थों में पालि के जो प्रयोग मिलते हैं, उनकी भी इस अर्थ से सार्थकता सिद्ध हो जाती है। बुद्धवचनों की पंक्ति या पाठ की पंक्ति का अर्थ बुद्धघोष के प्रयोगों में बैठ जाता है। तथापि ध्वनिविज्ञान के अनुसार पंक्ति शब्द से पालि की व्युत्पत्ति नहीं बैठाई जा सकती। उसकी अपेक्षा पंक्ति के अर्थ में प्रचलित देशी शब्द पालि, पाठ्ठ, पाड़ू से ही इस शब्द का सबंध जोड़ना अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। पालि शब्द पीछे संस्कृत में भी प्रचलित हुआ पाया जाता है। अभिधानप्पदीपिका में जो पालि की व्युत्पत्ति 'पालेति रक्खतीति पालि', इस प्रकार बतलाई गई है उससे भी इस मत का समर्थन होता है। किंतु 'पालि महाव्याकरण' के कर्ता भिक्षु जगदीश कश्यप ने पालि को पंक्ति के अर्थ में लेने के विषय में कुछ आपत्तियाँ उठाई हैं और उसे मूल त्रिपिटक ग्रंथों में अनेक स्थानों पर प्रयुक्त 'परीयाय' (पर्याय) शब्द से व्युत्पन्न बतलाने का प्रयत्न किया है। सम्राट् अशोक के भाब्रू शिलालेख में त्रिपिटक के 'धम्मपरियाय' शब्द स्थान पर मागधी प्रवृत्ति के अनुसार 'धम्म पलियाय' शब्द का प्रयोग पाया जाता है, जिसका अर्थ बुद्ध-उपदेश या वचन होता है। कश्यप जी के अनुसार इसी पलियाय शरण से पालि की व्युत्पत्ति हुई।

मूल त्रिपिटक में भाषा का कहीं कोई नाम नहीं मिलता। किंतु बुद्धघोष आदि आचार्यों ने बुद्ध के उपदेशों की भाषा को मागधी कहा है। विसुद्धिमग्ग एवं महावंस में इस मागधी को सब प्राणियों की मूलभाषा कहा गया है। उसके स्थान पर पालि शब्द का प्रयोग प्रायः 14वीं शती ई. के पूर्व नहीं पाया जाता। हाँ, बुद्धघोष ने अपनी अट्ठकथाओं में पालि शब्द का प्रयोग किया है, किंतु यह भाषा के अर्थ में नहीं, बुद्धवचन अथवा मूलत्रिपिटक के पाठ के अर्थ में किया है और वह भी प्रायः उस पाठ को अट्ठकथा से भिन्न दिखलाने के लिए। इस प्रकार कहीं उन्होंने कहा है कि इसकी पालि इस प्रकार है, किंतु अट्ठकथा में ऐसा है, अथवा यह बात न पालि में है और न अट्ठकथा में आई है। बुद्धघोष के समय से कुछ पूर्व लिखे गए दीपवंस में तथा उनके पश्चात्कालीन महावंस आदि रचनाओं में भी पालि शब्द का इन्हीं दो अर्थों में प्रयोग किया गया पाया जाता है। इसी अर्थप्रयोग से क्रमशः पालि शब्द उस साहित्य तथा उसकी भाषा के लिए भी किया जाने लगा।

पालि तथा अन्य मध्ययुगीन आर्यभाषाएँ

भाषा की दृष्टि से पालि उस मध्ययुगीन भारतीय आर्यभाषा का एक रूप है, जिसका विकास लगभग ई.पू. छठी शती से माना जाता है। उससे पूर्व की आदियुगीन भारतीय आर्यभाषा का स्वरूप वेदों तथा ब्राह्मणों, उपनिषदों एवं रामायण, महाभारत आदि ग्रंथों में प्राप्त होता है, जिन्हें 'वैदिक भाषा' एवं 'संस्कृत भाषा' कहते हैं। वैदिक भाषा एवं संस्कृत की अपेक्षा मध्यकालीन भाषाओं का भेद प्रमुखता से निम्न बातों में पाया जाता है –

ध्वनियों में ऋ, ल, ऐ और इन स्वरों का अभाव,

ए और ओ की ह्रस्व ध्वनियों का विकास,

'स् इन तीनों ऊष्मों के स्थान पर किसी एकमात्र का तथा सामान्यत: स का प्रयोग,

विसर्ग का सर्वथा अभाव तथा असवर्णसंयुक्त व्यंजनों को असंयुक्त बनाने अथवा सवर्ण संयोग में परिवर्तित करने की प्रवृत्ति।

व्याकरण की दृष्टि से

संज्ञा एवं क्रिया के रूपों में द्विवचन का अभाव

पुल्लिंग और नपुंसक लिंग में अभेद और व्यत्यय

कारकों एवं क्रियारूपों में संकोच,

हलंत रूपों का अभावय

कियाओं में परस्मैपद, आत्मनेपद तथा भवादि, अदादि गणों के भेद का लोप। ये विशेषताएँ मध्ययुगीन भारतीय आर्यभाषा के सामान्य लक्षण हैं और देश की उन लोकभाषाओं में पाए जाते हैं, जिनका सुप्रचार उक्त अवधि से कोई दो हजार वर्ष तक रहा और जिनका बहुत-सा साहित्य भी उपलब्ध है।

काल के आधार पर प्राकृत भाषाओं के भेद

उक्त सामान्य लक्षणों के अतिरिक्त इन भाषाओं में अपने-अपने देश और काल की अपेक्षा नाना भेद पाए जाते हैं। काल की दृष्टि से उनके तीन स्तर माने गए हैं –

प्राक्मध्यकालीन (ई.पू. 600 से ई. सन् 100 तक),

अन्तर मध्यकालीन (ई. सन् 100 से 600 तक), तथा

उत्तर मध्यकालीन (ई.सन् 600 से 1000 तक)।

इन सब युगों की भाषाओं को एक सामान्य नाम प्राकृत दिया गया है। इसके प्रथम स्तर को भाषाओं का स्वरूप अशोक की प्रशस्तियों तथा पालि साहित्य में प्राप्त होता है। द्वितीय स्तर की भाषाओं में मागधी, अर्धमागधी, शौरसेनी एवं महाराष्ट्री प्राकृत भाषाएँ है, जिनका विपुल साहित्य उपलब्ध है। तृतीय स्तर की भाषाओं को अपभ्रंश एव अवहट्ठ नाम दिए गए हैं।

देशभेद की दृष्टि से प्राकृत भाषाओं के भेद

देशभेद की दृष्टि से मध्यकालीन भाषाओं के भेद का सर्वप्राचीन परिचय मौर्य सम्राट् अशोक (ई.पू. तृतीय शती) की धर्मलिपियों में प्राप्त होता है। इनमें तीन प्रदेशभेद स्पष्ट हैं - पूर्वी, पश्चिमी और पश्चिमोत्तरी। पूर्वी भाषा का स्वरूप धौली और जौगढ़ की प्रशस्तियों में दिखाई देता है। इनमें र के स्थान पर ल तथा आकारांत शब्दों के कर्ताकारक एकवचन की विभक्ति ए सुप्रतिष्ठित है। प्राकृत के वैयाकरणों ने इन प्रवृत्तियों को मागधी प्राकृत के विशेष लक्षणों में गिनाया है। वैयाकरणों के मतानुसार इस मागधी प्राकृत का तीसरा विशेष लक्षण तीनों ऊष्म वर्णों के स्थान पर श् का प्रयोग है। किंतु अशोक के उक्त लेखों में यह प्रवृत्ति नहीं पाई जाती, क्योंकि यहाँ तीनों ऊष्मों के स्थान पर स् ही प्रयुक्त हुआ है। इसी कारण अशोक की इस पूर्वी प्राकृत को मागधी न कहकर अर्धमागधी का प्राचीन रूप कहना अधिक उपयुक्त है। पश्चिमी भाषा भेद का प्रतिनिधित्व करनेवालों में गिरनार की प्रशस्तियाँ हैं। इनमें र और ल का भेद सुरक्षित है। ऊष्मों के स्थान पर स् का प्रयोग है तथा अकारांत कर्ता कारक एकवचन रूप ओ में अंत होता है। इन प्रवृत्तियों से स्पष्ट है कि यह भाषा शौरसेनी का प्राचीन रूप है। पश्चिमोत्तर की भाषा का रूप शहबाजगढ़ी और मानसेरा की प्रशस्तियों में दिखाई देता है। इनमें प्रायः श, ', स् ये तीनों ऊष्म वर्ण अपने स्थान पर सुरक्षित हैं। कहीं-कहीं कुछ व्यत्यय दृष्टिगोचर होता है। रकारयुक्त संयुक्तवर्ण भी दिखाई देते हैं, तथा ज्ञ और न्य के स्थान पर रंञ्ञ, का प्रयोग (जैसे रंजो ंप) पाया जाता है। ये प्रवृत्तियाँ उस भाषा को पैशाची प्राकृत का पूर्व रूप इंगित करती हैं।

पालि त्रिपिटक का कुछ भाग अवश्य ही अशोक के काल में साहित्यिक रूप धारण कर चुका था क्योंकि उसके लाहुलोवाद, मोने" यसुत्त आदि सात प्रकरणों का उल्लेख उनकी भाब्रू की प्रशस्ति में हुआ है। किंतु उपलब्ध साहित्य की भाषा में अशोक के पूर्वी शिलालेख की भाषा संबंधी विशेषताओं का प्रायः सर्वथा अभाव है। व्यापक रूप से पालि भाषा का स्वरूप गिरनार

प्रशस्ति की भाषा से सर्वाधिक मेल खाता है और इसी कारण पालि मूलतः पूर्वदेशीय नहीं, किंतु मध्यदेशीय है। जिस विशेषता के कारण पालि मध्ययुगीन भारतीय आर्यभाषा के प्रथम स्तर की गिनी जाती है, द्वितीय की नहीं, वह है उसमें मध्यवर्ती अघोष व्यंजनों के लोप तथा महाप्राण वर्णों के स्थान पर ह् के आदेश का अभाव। ये प्रवृत्तियाँ द्वितीय स्तर की भाषाओं के सामान्य लक्षण हैं। हाँ, कहीं कहीं क् त् जैसे अघोष वर्णों के स्थान पर ग् द् आदि सघोष वर्णों का आदेश दिखाई देता है। किंतु यह एक तो अल्पमात्र में ही है और दूसरे वह प्रथम स्तर की उक्त मर्यादा के भीतर अपेक्षाकृत पश्चात्काल की प्रवृत्ति का द्योतक है।

पालि भाषा एवं मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषाओं के संबंध में ध्यान देने योग्य बात यह है कि यह भाषाविकास जो संस्कृत से माना जाता है वह ठीक नहीं। यथार्थतः वैदिककाल से ही साहित्यिक भाषा के साथ साथ उससे मिलती जुलती लोकभाषा ने देश एवं कालभेदानुसार साहित्यिक प्राकृत भाषाओं का रूप धारण किया है। पालि भी अपनी पूरी विरासत संस्कृत से नहीं ले रही, क्योंकि उसमें अनके शब्दरूप ऐसे पाए जाते हैं, जिसका मेल संस्कृत से नहीं, किंतु वेदों की भाषा से बैठता है। उदाहरणार्थ– पालि एवं अन्य प्राकृतों में तृतीया बहुवचन के देवेर्भि, देवेहि, जैसे रूप मिलते हैं। अकारांत संज्ञाओं के ऐसे रूपों का संस्कृत में सर्वथा अभाव है, किंतु वैदिक में देवेर्भि, उतना ही सुप्रचिलित है, जितना देवैरू। अतएव उक्त रूप की परंपरा पालि तथा प्राकृतों में वैदिक भाषा से ही उद्भूत मानी जा सकती है। उसी प्रकार पालि में 'यमामसे' 'मासरे' 'कातवे' आदि अनेक रूप ऐसे हैं, जिनके प्रत्यय संस्कृत में पाए ही नहीं जाते, किंतु वैदिक भाषा में विद्यमान हैं। पालि के ग्रंथों तथा अशोक की प्रशस्तियों से पूर्व का प्राकृत (लोकभाषाओं) में लिखित साहित्य उपलब्ध नहीं है तथा प्राकृत वैयाकरणों ने अपनी सुविधा के लिए संस्कृत को प्रकृति मानकर प्राकृत भाषा का व्याकरणात्मक विश्लेषण किया है और इसीलिए यह भ्रांति उत्पन्न हो गई है कि प्राकृत भाषाओं की उत्पत्ति संस्कृत से हुई। पालि के कच्चान, मोग्गल्लान आदि व्याकरणों में यह दोष नहीं पाया जाता, क्योंकि वहाँ भाषा का वर्णन संस्कृत को प्रकृति मानक नहीं किया गया।

पालि भाषा का उद्भव

पालि भाषा दीर्घकाल तक राज्य भाषा के रूप में भी गौरवान्वित रही है। भगवान बुद्ध ने पालि भाषा में ही उपदेश दिये थे। अशोक के समय में इसकी

बहुत उन्नति हुई। उस समय इसका प्रचार भी विभिन्न बाह्य देशों में हुआ। अशोक के समय सभी लेख पालि भाषा में ही लिखे गए थे। यह कई देशो जैसे श्री लंका, बर्मा आदि देशों की धर्म भाषा के रूप में सम्मानित हुई।

'पाली' भाषा का उद्भव गौतम बुद्ध से लगभग तीन सौ वर्ष पहले ही हो चुका था, किन्तु उसके प्रारम्भिक साहित्य का पता नहीं लगता। प्रत्येक भाषा का अपना साहित्य प्रारम्भिक अवस्था में कथा, गीत, पहेली आदि के रूप में रहता है और उसकी रूपरेखा तब तक लोगों को जबानी याद रहती है जब तक कि वह लेखबद्ध हो या ग्रंथारूढ न हो जाय। इस काल में पालि भाषा की जैसे उत्पत्ति हुई वैसे ही विकास भी हुआ। प्रारंभ से लेकर लगभग तीन सौ वर्षों तक पालि भाषा जन साधारण के बोलचाल की भाषा रही, किन्तु जिस समय भगवान बुद्ध ने इसे अपने उपदेश के लिए चुना और इसी भाषा में उपदेश देना शुरू किया, तब यह थोड़े ही दिनों में शिक्षित समुदाय की भाषा होने के साथ राजभाषा भी बन गई। 'पालि' शब्द का सबसे पहला व्यापक प्रयोग हमें आचार्य बुद्धघोष की अट्टकथाओं और उनके विसुद्धिमग्ग में मिलता है। वहाँ यह बात अपने उत्तर कालीन भाषा संबंधी अर्थ से मुक्त है। आचार्य बुद्धघोष ने दो अर्थों में इसका प्रयोग किया है- (1) बुद्ध-बचन या मूल टिपिटक के अर्थ में (2) पाठ या मूल टिपिटक के पाठ अर्थ में।

पालि भाषा' से तात्पर्य उस भाषा से लेते हैं, जिसमें स्थविरवाद बौद्धधर्म का तिपिटक और उसका संपूर्ण उपजीवी साहित्य रखा हुआ है। किन्तु 'पालि' शब्द का इस अर्थ में प्रयोग स्वयं पालि साहित्य में भी उन्नीसवीं शताब्दी से पूर्व कभी नहीं किया गया। पालि भाषा मूलतः मागधी भाषा ही थी। इसके उदाहरण कच्चायन-व्याकरण में देखने को मिलते हैं। मागधी ही मूल भाषा है, जिसमें प्रथम कल्प के मनुष्य बोलते थे, जो ही अश्रुत वचन वाले शिशुओं की मूल भाषा है और जिसमें ही बुद्ध ने अपने धर्म का, मूल रूप से भाषण किया। इसी प्रकार महावंश के परिवर्द्धित अंश चूल वंश के परिच्छेद 37की 244 वीं गाथा में कहा गया है हस्सब्बेसं मूलभासाय मागवाय निरुत्तीया" आदि। निश्चय ही सिंहली परंपरा अपनी इस मान्यता में बड़ी दृढ़ है कि जिसे हम आज पालि कहते हैं, वह बुद्धकालीन भारत में बोली जाने वाली मागध भाषा ही थी। बुद्ध बचनों की भाषा को ही सिंहली परंपरा 'मागधी' कहना नहीं चाहती, वह अट्टककथाओं तक की भाषा को बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी में मागधी कहना ही अधिक पसन्द करती है।

वैसे इसमें विद्वानों के मत अलग-अलग हैं- आचार्य बुद्धघोष ऐसा मानते हैं कि यह भाषा मूलत: मागधी थी।

डॉ. रीज देवीड्स का कहना है कि पालि भाषा कोसल की भाषा थी, क्योंकि गौतम बुद्ध कोसल के अंतर्गत शाक्य जनपद के रहने वाले थे। वैस्टरगार्ड एयर ई. कुहन पालि भाषा को उज्जयिनी प्रदेश की भाषा बताते हैं। उनका कहना है कि यदि भाषा की बनावट को देखा जाए और उसकी तुलना अशोक के शिलालेखों से की जाए तो ज्ञात होगा गिनार के लेख की भाषा से पालि मिलती जुलती है।

डॉ. ओल्डनबर्ग और ई. मुलर का मत है कि पालि भाषा का उद्‌गम स्थान कलिंग है। इन दिनों विद्वानों ने कहा है कि कलिंग से ही लंका में धर्मोपदेश का कार्य होता रहा। कलिंग के ही लोगों ने जाकर लंका को आबाद किया था और खंडगिरि के शिलालेखों में पालि का अधिक साम्य है। इन सभी विद्वानों के मत अलग-अलग हैं। गौतम बुद्ध शाक्य जनपद की राजधानी कपिल वस्तु के रहने वाले थे, जो कोसल के अंतर्गत एक गणतन्त्र था। वहाँ जो भाषा थी उसी में गौतम बुद्ध ने अपने उपदेश दिये। वैसे गौतम बुद्ध भाषा सम्बन्धी दुराग्रह के विरोधी थे।

उन्होंने जिस भाषा में उपदेश दिया वह भाषा बिहार कि पूर्व सीमा से लेकर करू (दिल्ली दृथानेश्वर) देश तक, मथुरा, उशीरध्वज से लेकर बिन्ध्य पर्वतमाला तक लोग समझते थे। गौतम बुद्ध के महानिर्वाण के एक मास के उपरांत ही उनके उपदेश त्रिपितक के रूप में संग्रहित किए गए थे। अत: इन सारे तथ्यों पर विचार करने से ज्ञात होता है कि पालि भाषा संपूर्ण मध्यदेश की साहित्यक भाषा थी। उस पर कोसल, मगध, काशी, पांचाल, करू, वत्स, सुरसेन, शाक्य, कोलिय, मल्ल, वज्जी, विदेह, अंग आदि जनपदो एवं गणों की प्रादेशिक बोलियों का प्रभाव था। अत: हम कह सकते हैं कि पालि भाषा मध्यदेश की भाषा थी और मध्यदेश ही उसका उद्‌गम स्थान था, वैसे भी भाषा किसी खास नगर या देश की वस्तु नहीं होती। वह तो समुदाय, जन, एवं देश से अपना संबंध रखती है।

4

प्राकृत साहित्य

मध्ययुगीन प्राकृतों का गद्य-पद्यात्मक साहित्य विशाल मात्रा में उपलब्ध है। सबसे प्राचीन वह अर्धमागधी साहित्य है, जिसमें जैन धार्मिक ग्रंथ रचे गए हैं तथा जिन्हें समष्टि रूप से जैनागम या जैनश्रुतांग कहा जाता है। इस साहित्य की प्राचीन परंपरा यह है कि अंतिम जैन तीर्थंकर महावीर का विदेह प्रदेश में जन्म लगभग 600 ई. पूर्व हुआ। उन्होंने 30 वर्ष की अवस्था में मुनि दीक्षा ले ली और 12 वर्ष तप और ध्यान करके कैवल्यज्ञान प्राप्त किया। तत्पश्चात् उन्होंने अपना धर्मोपदेश सर्वप्रथम राजगृह में और फिर अन्य नाना स्थानों में देकर जैन धर्म का प्रचार किया। उनके उपदेशों को उनके जीवनकाल में ही उनके शिष्यों ने 12 अंगों में संकलित किया। उनके नाम हैं-

(1) आचारांग, (2) सूत्रकृतांग, (3) स्थानांग, (4) समयांग, (5) भगवती व्याख्या प्रज्ञप्ति, (6) न्यायधर्म कथा (णायाधम्महाओ), (7) उपासकादशा, (8) अंतकृदशा, (9) अनुत्तेरोपपातिक (10) प्रश्न व्याकरण, (11) विपाक सूत्र और (12) दृष्टिवाद।

इन अंगों की भाषा वही अर्धमागधी प्राकृत है, जिसमें महावीर ने अपने उपदेश दिए। संभवतः यह आगम उस समय लिपिबद्ध नहीं किया गया एवं गुरु-शिष्य परंपरा से मौखिक रूप में प्रचलित रहा और यही उसके श्रुतांग कहलाने की सार्थकता है।

महावीर का निर्वाण 72 वर्ष की अवस्था में ई. पू. 527 में हुआ और उसके पश्चात् शीघ्र ही उक्त अंगों की परंपरा में विप्रतिपत्तियाँ उत्पन्न होने लगीं। जैनधर्म के दिगंबर संप्रदाय की मान्यता है कि श्रुतांगों का क्रमशः ह्रास होते-होते उनका

खंडशः ज्ञान कुछ आचार्यो को रहा ओर उसके आधार से उन्होंने नए रूप में सैद्धांतिक ग्रंथ लिखे, जिनके प्राचीनतम उदाहरण कर्मप्राकृत (षट्खंडागम) व कषायप्राकृत (कसायपाहुड) नामक सूत्र हैं। किंतु श्वेतांबर संप्रदाय की मान्यता है कि उक्त आगम ग्रंथों को उत्पन्न होती हुई विकृतियों से बचाने के लिये समय-समय पर मुनियों ने उनकी वाचनाएँ कीं और उन्हें सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया। प्रथम वाचना महावीर निर्वाण से 160 वर्षो पश्चात् पाटलिपुत्र में स्थूलभद्राचार्य की अध्यक्षता में हुई, जिसमें 11 अंगों का संकलन किया गया। 12वें अंग का उपस्थित मुनियों में से किसी को भी व्यवस्थित ज्ञान न होने से उसका उद्धार नहीं किया जा सका। जैन मुनियों की अपरिग्रह वृत्ति तथा वर्षाकाल को छोड़ निरंतर परिभ्रमण एवं उस काल की कठिनाइयों के कारण यह अंगज्ञान पुनः छिन्न-भिन्न होने लगा। आर्य स्कंदित ने मथुरा में मुनिसंघ का सम्मेलन किया और उन्हीं 11 अंगों को एक बार पुनः व्यवस्थित करने का प्रयत्न किया। देवर्धिगणि क्षमाश्रमण ने वलभी नगर में मुनिसम्मेलन कराया और जैन आगम को वह रूप दिया जिसमें वह आज उपलब्ध है। इस वाचना में उपर्युक्त 11 अंगों के अतिरिक्त अन्य अनेक ग्रंथों को सुव्यवस्थित करने का प्रयत्न किया गया जो इस कालावधि तक रचे जा चुके थे। ये थे - 12 उपांग, 6 छेदसूत्र, 4 मूलसूत्र, 10 प्रकीर्णक और दो चूलिकाएँ। इस प्रकार वलभी वाचना के फलस्वरूप अर्धमागधी जैनागम के 45 ग्रंथ व्यवस्थित हो गए जो आज भी उपलब्ध हैं, तथा जिनका संक्षेप में परिचय निम्न प्रकार है –

ग्यारह अंग

1. आचारंग–इस श्रुतग्रंथ में मुनियों के पालने योग्य सदाचार का विवरण दिया गया है। यह दो श्रुतस्कंधों में विभाजित है। प्रथम श्रुतस्कंध में 9 अध्ययन और उनके अंतर्गत 44 उद्देश्यक हैं। ग्रंथ का यह भाग मूल एवं भाषा, शैली और विषय की दृष्टि से प्राचीनतम है। द्वि श्रुतस्कंध इसकी चूलिका के रूप में है और वह तीन चूलिकाओं एवं 16 अध्ययनों में विभाजित है। प्रथम श्रुतस्कंध के नवमें उपधान नामक अध्ययन में महावीर की उग्र तपस्या एवं लाढ़ वज्रभूमि, शुभ्रभूमि आदि स्थानों में विहार करते हुए घोर उपसर्गो के सहने का मार्मिक वर्णन है।

2. सूत्रकृतांग - इसके भी दो श्रुतस्कंध हैं, जिनमें क्रमशः 16 तथा 7 अध्ययन हैं1 प्रथम श्रुतांग प्रायः मद्यमय है और दूसरे में गद्य पद्य दोनों का प्रयोग हुआ है। इसमें प्राचीन काल के दार्शनिक वादों जैसे क्रियावाद, अक्रियावाद,

नियतिवाद, अज्ञानवाद आदि का प्ररूपण तथा निराकरण किया गया है तथा श्रमण, ब्राह्मण, भिक्षु, निर्ग्रंथ आदि के स्वरूप की व्याख्या की गई है। अंतिम अध्ययन नालदीय में महावीर के शिष्य गौतम तथा पार्श्वनाथ की परंपरा के उदक पेढ़ालपुत्र के बीच वार्तालाप और चातुर्याम धर्म के संबंध में विचार जैनधर्म की महावीर से पूर्वपरंपरा पर प्रकाश डालता है।

3. स्थानांग – इसमें 10 अध्ययन हैं, जिनमें क्रमशः एक से लेकर 10 तक की संख्यावाले पदार्थों का निरूपण किया गया है, जैसे एक दर्शन, एकचारित्र, एक समय, इत्यादिय दो क्रियाएँ जीव और अजीवय वृक्ष तीन प्रकार केह्न पत्रोपेत, फलोपेत और पुष्पोपेत, तीन वेद ऋग, यजु और साम इत्यादि। इस पद्धति से इस ग्रंथ में अनेक विषयों का बहुमुखी वर्णन आया है, जो अपने ढंग का एक विश्वकोश ही है। उसकी यह शैली पालि त्रिपिटक के अंगुततर निकाय से समता रखती है।

4. समवायांग – यह भी स्थानांग के सदृश एकोत्तर क्रम से वस्तुओं का निरूपण करनेवाला विश्वकोश है। विशेषता इसकी यह है कि इसमें संख्याक्रम क्रमशः बढ़ता हुआ शतों, सहस्रों, शतसहस्त्रों तथा कोटियों तक पहुँचाया गया है। यथास्थान इसमें जैन आगम तथा तीर्थकर, चक्रवर्ती आदि त्रिरसठ शलाकापुरुषों का परिचय नामवली पद्धति से वर्णित है।

5. भगवती व्याख्या प्रज्ञाप्ति – यह रचना आकार और विषय की दृष्टि जैनागम में सबसे अधिक विशाल और महत्त्वपूर्ण है। इसमें 41 शतक हैं और प्रत्येक शतक अनेक उद्देशक में विभाजित है। शैली प्रश्नोत्तरात्मक है। प्रश्नकर्ता हैं गौतम गणधर और उत्तरदाता स्वयं महावीर। टीकाकारों के अनुसार इसमें 36 सहस्र प्रश्नोत्तरों का समावेश है। दर्शन, आचार, इतिहास, भूगोल आदि समस्त विषयों पर किसी न किसी प्रसंग से प्रकाश डाला गया है। महावीरकाल की राजनीतिक परिस्थिति और उस समय के घोर युद्ध आदि का वर्णन जैसा इस ग्रंथ में आया है वैसा अन्यत्र कहीं नहीं पाया जाता।

6. न्याय धर्मकथा – इस अंग का प्राकृत नाम न्यायधम्मकहाओं है और उसका संस्कृत रूपांतर ज्ञातृ या ज्ञाताधर्मकथा भी किया जाता है, जिसका अर्थ होता है ज्ञातृ अर्थात् ज्ञातृपुत्र महावीर का धर्मोपदेश। विषय को देखते हुए इसका प्रथम नाम ही अधिक सार्थक प्रतीत होता है क्योंकि इसमें कथाओं द्वारा किन्हीं न्यायों अर्थात नीतिवाक्यों का स्पष्टीकरण किया गया है।

7. उपासकदशा – नामानुसार इसमें भी उपासक, कामदेव, चुलणीप्रिय आदि दस ऐसे उपासकों के चरित्र वर्णित हैं, जिन्होंने कठिनाइयों के बीच धर्मपालन किया।

8. अंतकृददशा – नामानुसार इसमें भी उपासक दशा के समान दस अध्ययन ही रहे होंगे। किंतु वर्तमान में यहाँ आठ वर्ग हैं और प्रत्येक वर्ग अनेक अध्ययनों में विभाजित हैं। इसमें ऐसे साधुओं के चरित्र वर्णित किए गए हैं, जिन्होंने तपस्या द्वारा संसार का अंत कर निर्वाण प्राप्त किया।

9. अनुत्तरोपपातिक दशा – इसमें ऐसे मुनियों के चरित्र वर्णित हैं, जिन्हें अपनी तपस्या के बीच घोर उपसर्ग सहन करने पड़े और उन्होंने मरकर उन अनुत्तर नामक स्वर्गो में जन्म लिया, जहाँ से केवल एक बार पुनः मनुष्य जन्म धारण कर निर्वाण प्राप्त किया जाता है।

10. प्रश्नव्याकरण – ग्रंथ के नाम से तथा स्थानांग एवं समवायांग से प्राप्त इस श्रुतांग के विषयपरिचय से ज्ञात होता है कि इसमें मूलतः प्रश्नोत्तर के रूप में नाना सिद्धांतों की व्याख्या की गई थी। किंतु वर्तमान में ऐसा न होकर इसके प्रथम खंड में हिंसादि पाँच पापों का और दूसरे खंड में अहिंसादि व्रतों का प्ररूपण पाया जाता है।

11. विपाकसूत्र – इसमें दो श्रुतस्कंध हैं और प्रत्येक में दस-अध्ययन हैं। इसमें जीव के अच्छे और बुरे कर्मो से फलित होनेवाले सुख दुरूखों का बड़ा वैचित्र्य है, जिसमें जीवन की सभी दशाओं का वर्णन आ गया है। जैनधर्म के कर्मसिद्धांतनुसार जीवन के समस्त अनुभव सुकर्म एवं दुष्कर्मो के परिणाम ही हैं। इसका इस श्रुतांग में विस्तार से प्ररूपण पाया जाता है।

बारह उपांग

(1) औपपातिक में नाना साधनाओं द्वारा पुनर्जन्म के स्वरूप का नाना उदाहरणों सहित व्याख्यान किया गया है। इसकी यह भी एक विशेषता है कि जिन नगर, राजा, चौत्य आदिक का अन्यत्र संकेत मात्रा पाया जाता है, उसका यहाँ पूरा वर्णन मिलता है।

(2) रायपसेणिज्जं – इसका संस्कृत रूपांतर राजप्रश्नीय किया जाता है, किंतु संभवतः उसका संबंध कोशलनरेश प्रसेनजित से रहा है, जो पहले भौतिकवादी था, किंतु पश्चात् केशी मुनि के उपदेश से सम्यगदृष्टि बन गया। यह ग्रंथ पालि 'मिलिंद पंहो' से तुलनीय है।

(3) जीवाजीवाभिगम - में नामानुसार प्रश्नोत्तर के रूप में जीव और अजीव के भेदप्रभेदों का वर्णन किया गया है।

(4) प्रज्ञापना में जैन दर्शन की नाना व्यवस्थाओं का विवरण हुआ है, जिससे यह ग्रंथ भगवती के समान जैन सिद्धांत का ज्ञानकोश ही कहा जा सकता है।(5) वें, (6) ठे और (7) वें उपांगों के नाम क्रमशः सूर्यप्रज्ञप्ति, जंबुद्वीपप्रज्ञप्ति और चंद्रप्रज्ञाप्ति हैं, जिनमें उन लोकों का जैन मान्यतानुसार वर्णन किया गया है। (8) कल्पिका व (9) कल्पावतंसिका में मगधराज श्रेणिक, उसके पुत्र अजातशत्रु एवं उसके पोत्रों के चरित्र वर्णित हैं, जिन्होंने अपने अपने कर्मानुसार नरक तथा स्वर्गगतियाँ प्राप्त कीं। (10) पुष्पिका एवं (11) पुष्पचूला में अनेक स्त्री पुरुषों की धार्मिक साधना, स्वर्गसुखों और महावीर की वंदना के लिये आगमन का वर्णन है। (12) वृष्णिदशा में द्वारावती के राजा कृष्णवासुदेव एवं तीर्थकर नेमिनाथ के चरित्र का वर्णन है।

छः छेदसूत्र

(1) निशीथ, (2) महानिशीथ, (3) व्यवहार, (4) आचारदशा, (5) कल्पसूत्र और (6) पंचकल्प।

इनमें मुनियों की साधनाओं एवं व्रतों का भंग होने पर प्रायश्चित्त का विचार किया गया है। इन सबमें कल्पसूत्र का सबसे अधिक प्रचार है। मुनि आचार के अतिरिक्त इसमें महावीर तथा ऋषभदेव, नेमिनाथ और पश्र्वनाथ के चरित्र भी वर्णित हैं।

चार मूलसूत्र

(1) उत्तराध्ययन, (2) दश्वैकालिक, (3) आवश्यक और (4) पिण्डनिर्युक्ति

इन सभी में मुख्यतया मुनि आचार का वर्णन है। इनमें उत्तराध्ययन की बड़ी प्रतिष्ठा है।

दस प्रकीर्णक

(1) चतुरूशरण (2) आतुर प्रत्याख्यान, (3) महाप्रत्याख्यान (4) भक्त परिज्ञा, (5) तंदुलवैचारिक, (6) संस्तारक (7) गच्छाचर, (8) गणिविद्य, (9) देवंद्रस्तव और (10) मरणसमाधि।

ये सभी प्रायः पद्यात्मक हैं और इनमें मुनियों के पालने योग्य नीति का उपदेश दिया गया है।

दो चूलिका सूत्र

(1) नंदी और (2) अनुयोगद्वार।

नंदी में ज्ञान के भेदों व श्रुतांगों का विस्तार से वर्णन है तथा अनुयोगद्वार में प्रश्नोत्तरों के रूप में नाना विषयों का परिचय कराया गया है, जिसमें रसों व संगीत आदि का भी समावेश है।

उपरोक्त ही 45 जैनधार्मिक ग्रंथ है, जो उपलब्ध अर्धमागधी साहित्य कहा जा सकता है। इन ग्रंथों पर निर्युक्ति, चूर्ण, टीका, भाष्य, वृत्ति आदि व्याख्यात्मक विशाल साहित्य प्राकृत और संस्कृत भाषाओं में पद्य और पद्यात्मक है। समस्त निर्युक्तियाँ भद्रबाहुकृत व चूर्णियाँ जिनदासगणि महत्तर कृत मानी जाती हैं। इनके भीतर जैन सिद्धांत के विवेचन के अतिरिक्त आख्यानात्मक रचनाओं का बड़ा वैपुल्य है, जो साहित्य और इतिहास की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।

दिगंबर संप्रदाय में इन 45 आगम ग्रंथों की मान्यता और प्रचार नहीं है। उस परंपरा में लुप्त हुए द्वादशांग श्रुत के आधार से शौरसेनी प्राकृत में स्वतंत्र साहित्य का निर्माण हुआ जिसकी सर्वप्राचीन रचनाएँ पुष्पदंत और भूतबलिकृत कर्मप्राभृत नामक ग्रंथ हैं। इनमें जैन कर्मसिद्धांत का बड़ी व्यवस्था तथा सूक्ष्मता से प्ररूपण किया गया है। इनका रचनाकाल महावीर निर्वाण के 683 वर्ष के शीघ्र ही पश्चात् हुआ सिद्ध होता है। इनपर समय-समय पर अनेक टीकाएँ प्राकृत तथा संस्कृत में लिखी गई, जिनमें से वर्तमान में सुप्रसिद्ध धवल और जयधवल नामक टीकाएँ हैं, जिनके कर्ता वीरसेन और जिनसेन राष्ट्रकूट नरेश अमोघवर्ष (9वीं शती) के प्रायः समकालीन थे। प्राचीनता में कर्मप्राभृत और कषायप्राभृत के पश्चात् कुंदकुंदाचार्यकृत 12-13 शौरसेनी पद्यात्मक रचनाएँ हैं, जिनमें प्रधान हैं - प्रवचनसार, समयसार, पंचास्तिकाय और नियमसार। इन सभी में जैन सिद्धांत, आचारशास्त्र, तथा स्थाद्वादात्मक न्याय का निरूपण किया गया है। समयसार, पंचास्तिका और नियमासार। इन सभी में जैन सिद्धांत, आचारशास्त्र, तथा स्थाद्वादात्मक न्याय का निरूपण किया गया है। समयसार में जैसा आध्यामिक विवेचन किया गया है वैसा अन्यत्र नहीं पाया जाता।

जैन परंपरा का कथात्मक साहित्य

धार्मिक साहित्य के अतिरिक्त जैन परंपरा का बहुत सा कथात्मक साहित्य भी प्राकृत में पाया जाता है। इस प्रकार की सबसे प्राचीन रचना विमलसूरिकृत पउमचरियं (पद्मचरितम्) है, जिसमें कर्ता ने अपने ग्रंथ की समाप्ति का समय दुषमा काल के 530 (वीर निर्वाण 534) वर्ष पश्चात् अर्थात ई. सन् 7 सूचित किया है। किंतु विद्वानों को इसकी वास्तविकता में संदेह होता है और वह मुख्यत: इस आधार पर कि ग्रंथ में प्राकृत भाषा का जो स्वरूप मिलता है वह मध्ययुग के दूसरे स्तर का है, जिसका विकासकाल ई. सन् की दूसरी तीसरी शती से पूर्व नहीं माना जा सकता। यहाँ हमें भाषा की वे सब प्रवृत्तियाँ पुष्ट रूप से दिखाई देती हैं और जिन्हें प्राय: महाराष्ट्री प्राकृत के लक्षण माना जाता है। पउमचरियं में सात अधिकार हैं, जो 118 उद्देश्यों में विभाजित हैं। समस्त रचना पद्यात्मक है। छंद गाथा है, किन्तु स्थान-स्थान पर छंदवैचित्र्य भी पाया जाता है। शैली सरस और सरल है तथा उसमें कथात्मकता ही प्रधान है। मूल कथा वाल्मीकि कृत रामायण के सदृश है, किंतु अवांतर बातों में उससे बहुत भिन्नता भी है, जैसे सीता का एक भाई भामंडल भी थाय राम ने बर्बर जातियों के मिथिला पर आक्रमण होने पर जनक की सहायता की थी और इसी के उपलक्ष में जनक ने सीता को उन्हें अर्पित करने का संकल्प किया था। सुग्रीव, हनुमान आदि वानर नहीं थे, उनका ध्वजचिह्न वानर होने से वे वानरवंशी कहलाते थे। रावण के दशमुख नहीं थे, किंतु उसके प्राकृतिक एक मुख के अतिरिक्त नवरत्नमय हार में मुख के नव प्रतिबिंब दिखाई देने से वह दशानन कहलाने लगा था। उसकी मृत्यु राम के हाथ से नहीं, किंतु लक्ष्मण के हाथ से हुई। लक्ष्मण नारायण थे और राम बलदेव, इत्यादि।

प्राकृत में दूसरा जैन पुराण है- चउपन्नमहापुरिसरियं (चौपन महापुरुष चरित), जो शीलांकाचार्य द्वारा वि. सं. 925 में रचा गया था। यह प्राय: गद्यात्मक है और इसमें 24 तीर्थंकर, 12 चक्रवर्ती, 9 बलदेव और 9 वासुदेव - इन 54 महापुरुषों का चरित्र वर्णित है। वहाँ रामकथानक में वाल्मीकिकृत रामायण से कुछ और बातें भी ली गई हैं, जो पउमचरियं में नहीं हैं। प्राकृत गद्य में रचित एक और महापुराण भद्रेश्वरकृत कथावलि (12वीं शती) है, जिसमें उपर्युक्त 54 महापुरुषों के अतिरिक्त 9 प्रतिवासुदेवों के चरित्र सम्मिलित होने से समस्त 63 शलाकापुरुषों के चरित्र भी काव्य की रीति से वर्णित पाए जाते हैं। इनमें वर्धमानसूरिकृत आविनाथचरित, सोमप्रभकृत सुमतिनाथचरित, देवसूरिकृत

पद्मप्रभचरित, नेमिचंद्रकृत अनंतनाथचरित, देवंद्रगणिकृत वर्धमान चरित आदि अनेक विशाल रचनाएँ प्रकाश में आ चुकी हैं। ये रचनाएँ प्रायः 12वीं, 13वीं शती ई. की हैं, इनकी भाषा वही प्राकृत है, जिसका प्राकृत व्याकरणों में परिचय पाया जाता है और जिसे पाश्चात्य विद्वानों के 'जैन महाराष्ट्रों' की संज्ञा प्रदान की है।

पादलिप्तसूरिकृत तरंगवतीकथा का उल्लेख अनेक प्राचीन ग्रंथों में मिलता है। यह मूल ग्रंथ पद्य अप्राप्य है, किंतु इसके आधार से निर्मित नेमिचंद्रकृत तरंगलीला (15वीं शती ई.) नामकरचना उपलब्ध है। इसका कथानक एक उपन्यास है, जिसमें पात्रों के अनेक जन्मों का वृत्तांत गुथा हुआ है और वह बाणकृत कादंबरी का स्मरण कराता है।

प्राकृत गद्य साहित्य में हरिभद्रसूरिकृत समरादित्यकथा (8वीं शती ई.) का विशेष स्थान है। यह धर्मकथा है, जिसमें परस्पर विरोधी दो पुरुषों के नौ जन्मांतरों का क्रमशः वर्णन किया गया है। विद्वेषी पुरुष प्रत्येक जन्म में अपने वैरी से ईर्ष्याभाव के कारण उत्तरोत्तर अधोगति को प्राप्त होता है और चत्रिनायक अपने मन तथा चारित्र्य को उत्तरोत्तर शुद्ध बनाता हुआ अंतिम भाव में समरादित्य नाम का राजा होकर तपस्या द्वारा मोक्ष प्राप्त करता है। नौ ही भवों के कथानक अपने अपने रूप में स्वतंत्र और परिपूर्ण हैं तथा उनमें मानवीय भावनाओं तथा समाज के नाना स्तरों का सुदर चित्रण पाया जाता है। हरिभद्र की दूसरी उल्लेखनीय प्राकृत रचना है – धूर्ताख्यान। इसके पाँच आख्यानों में पाँच धूर्तों ने अपने अपने ऐसे कथानक सुनाए हैं, जिनसे अनेक पौराणिक अतिशयोक्तिपूर्ण वृत्तांतों की व्यंग्यात्मक आलोचना होती है। इस प्रकार यह पद्यात्मक रचना प्राकृत में ही नहीं, किंतु प्राचीन भारतीय साहित्य में व्यंग्यकथा का एक अपूर्व उदाहरण है।

इसी प्रकार की एक कथा उद्योतनसूरिकृत कुवलयमाला (ई. सन् 778) है। इसमें नायिका तथा उसके अन्य साथियों के तीन-चार जन्मांतरों का वर्णन अति रोचकता के साथ ग्रथित किया गया है।

धनेश्वरसूरिकृत सुरसुंदरीचरित्र (11वीं शती ई.)। गाथात्मक कथानक है, जिसमें अनेक संयोग और वियोगात्मक प्रेमाख्यान ग्रथित हैं। महेश्वरसूरिकृत ज्ञानपंचमीकथा (11वीं शती ई.) में दश धार्मिक कथाओं का समावेश हुआ है। हेमचंद्रकृत कुमारपालचरित (12वीं शती ई.) आठ सर्गो का एक काव्य है, जिसमें कर्ता के समकालीन गुजरात के राजा कुमारपाल के चरित्रवर्णन के साथ साथ कवि ने अपने प्राकृत व्याकरण के नियमों को उसी क्रम से उदाहृत किया है। इस प्रकार यह संस्कृत के भट्टिकाव्य का स्मरण दिलाता है, जिसमें पाणिनीय

व्याकरण के उदाहरण उपस्थित किए गए हैं, यद्यपि यहाँ वे उदाहरण उस प्रकार क्रमबद्ध नहीं हैं जैसे कुमारपालचरित्र में। देवेंद्रसूरिकृत श्रीपालचरित (14वीं शती), देवंद्रगणिकृत रत्नचूडारायचरित, सुमतिसूरिकृत जिनदत्ताख्यान तथा जिनहर्षगणिकृत रत्नशेखरीकथा आदि अनेक प्राकृत कथानक जैन साहित्य में उलब्ध हैं तथा इनके अतिरिक्त व्रतकथाओं के रूप में बहुत-सी लघु कथाएँ भी प्राप्त हैं।

महाराष्ट्री प्राकृत

दंडी ने अपने काव्यादर्श नामक अलंकार शास्त्र में महाराष्ट्री को सेतुबंधादि काव्यों की भाषा कहा है –

सहाराष्ट्राश्रयां भाषां प्रकृतष्टं प्राकृतं विदुरू।
सागरः सूक्तिरत्नानां सेतुबंधादि यन्मयमध

इससे प्राकृत भाषा और साहित्य के संबंध की दो महत्त्वपूर्ण बातें सिद्ध होती हैं- एक तो यह कि दंडी के समय (छठी सातवीं शती) में प्राकृत भाषा का जो स्वरूप विकसित होकर काव्यरचना में उतरने लगा था, उसी का नाम महाराष्ट्री प्राकृत प्रसिद्ध हुआ और दूसरी यह कि इसी प्राकृत में सेतुबंध और उसी के सदृश अन्य भी कुछ रचनाएँ उस समय प्रसिद्ध हो चुकी थीं। सौभाग्यतः दंडी द्वारा उल्लिखित सेतुबंध काव्य अब भी उपलब्ध है और प्राकृत की एक उत्कृष्ट रचना माना जाता है। इसका उल्लेख वाणभट्ट ने भी हर्षचरित को उत्थानिका में इस प्रकार किया है –

कीर्तिः प्रवरसेनस्य प्रयाता कुमुदोज्जवला।
सागरस्य परं पारं कपिसैनैव सेतुना॥

इससे सिद्ध होता है कि इस सेतुबंध के कर्ता का नाम प्रवरसेन था और बाण के समय (सातवीं शती का मध्य) तक इसकी कीर्ति समुद्रपार संभवतः लंका तक पहुँच चुकी थी। इसका नाम रावणवध या दशमुखवध भी पाया जाता है। कहीं-कहीं इसके कर्ता कालिदास भी कहे गए हैं। इस संबंध के समस्त उल्लेखों के विवेचन से यह बात प्रमाणित होती है कि इस काव्य के कर्ता वाकाटकवंशी राजा रुद्रसेन के पुत्र प्रवरसेन ही हैं। उनके पिता की मृत्यु उनके बाल्यकाल में ही हो गई थी और उनकी माता प्रभावती गुप्ता राज्य का कार्य सँभालती थीं। प्रभावती गुप्ता सम्राट् चंद्रगुप्त विक्रमादित्य की पुत्री थीं। इसीलिये गुप्तसम्राट् ने अपनी सभा के महाकवि कालिदास का कुछ काल के लिये उनके

सहायतार्थ भेजा था। अनुमानतः उसी बीच यह काव्यरचना हुई और कालिदास ने उसका कुछ संशोधन भी किया होगा। इस बात का कुछ आभास हमें काव्य के आदि में ही सातवीं गाथा में मिलता है। इन बातों से यह रचना गुप्तसम्राट् चंद्रगुप्त द्वितीय के राज्यकाल (ई. सन् 380 से 413) की सिद्ध होती है। इस काव्य में 15 आश्वास हैं और प्रत्येक आश्वास के अंतिम पद्य में कवि ने अपने को अनुरागअंक या अनुरागचिह्न द्वारा सूचित किया है। काव्य का कथानक सीता अपहरण के पश्चात् प्रारंभ होता है, जब राम वियोग की व्यथा में हैं। सुग्रीव की सहायता से हुनमान द्वारा लंका में सीता का पता लगाया गया और फिर राम लक्ष्मण वानरसेना सहित लंका पर आक्रमण करने के लिये निकले, किंतु समुद्रतट पर आकर एक बड़ी समस्या समुद्र पार करने की उपस्थित हुई। बड़े प्रयत्न से उस पर सेतु बनाया गया, सेना पार हुईय युद्ध में रावण मारा गया, तथा सीता की अग्निपरीक्षा के पश्चात् उन्हें साथ ले राम पुष्पक विमान द्वारा अयोध्या को लौट आए। कथानक वाल्मीकि रामायण का ही अनुसरण करता है, किंतु प्रकृति तथा घटनाओं का वर्णन कवि का अपना है। शैली समास और अलंकारप्रचुर है।

दंडी ने महाराष्ट्री को जो सेतुबंधादि काव्यों की भाषा कहा है, उससे उनका तात्पर्य संभवतः सेतुबंध के अतिरिक्त गाथासप्तशती से है, जिसका उल्लेख बाण ने हर्षचरित में इस प्रकार किया है–

अविनाशिनमग्राह्यमकरोत्सातवाहनः।
विशुद्ध जातिभिः कोषं रत्नेखिसुभाषितैरू॥ (हर्षचरित 13)

इसके अनुसार सातवाहन ने सुंदर सुभाषितों का एक कोश निर्माण किया था। आदि में यह कोश सुभाषितकोश या गाथाकोश के नाम से ही प्रसिद्ध था। पीछे क्रमशः सात सौ गाथाओं का समावेश हो जाने पर उसकी सप्तशती नाम से प्रसिद्ध हुई। सातवाहन, शालिवाहन या हाल नरेश भारतीय कथासाहित्य में उसी प्रकार ख्यातिप्राप्त हैं जैसे विक्रमादित्य। वात्स्यायन तथा राजशेखर ने उन्हें कुंतल का राजा कहा है और सोमदेवकृत कथासरित्सागर के अनुसार वे नरवाहनदत के पुत्र थे तथा उनकी राजधानी प्रतिष्ठान (आधुनिक पैठण) थी। पुराणों में आंध्र भृत्यों की राजवंशावली में सर्वप्रथम राजा का नाम सातवाहन तथा सत्रहवें नरेश का नाम हाल निर्दिष्ट किया गया है। इन सब प्रमाणों से हाल का समय ई. की प्रथम दो, तीन शतियों के बीच सिद्ध होता है और उस समय गाथा सप्तशती का कोश नामक मूल संकलन किया गया होगा। राजशेखर के अनुसार

सातवाहन ने अपने अंत:पुर में प्राकृत भाषा के ही प्रयोग का नियम बना दिया था। एक जनश्रुति के अनुसार उन्हीं के समय में गुणाढ्य द्वारा पैशाची प्राकृत में बृहत्कथा रची गई, जिसके अब केवल संस्कृत रूपांतर बृहत्कथामंजरी तथा कथासरित्सागर मिलते हैं। गाथासप्तशती की प्रत्येक गाथा अपने रूप में परिपूर्ण है और किसी मानवीय भावना, व्यवहार या प्राकृतिक दृश्य का अत्यंत सरसता और सौंदर्य से चित्रण करती है। शृंगार रस की प्रधानता है, किंतु हास्य, कारुण्य आदि रसों का भी अभाव नहीं है। प्रकृतिचित्रण में विंध्यपर्वत ओर गोला (गोदावरी) नदी का नाम पुन:-पुन: आता है। ग्राम, खेत, उपवन, झाड़ी, नदी, कुएँ, तालाब आदि पर पुरुष स्त्रियों के विलासपूर्ण व्यवहार एव भावभंगियों का जैसा चित्रण यहाँ मिलता है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। इस संग्रह का पश्चात्कालीन साहित्य पर बड़ा प्रभाव पड़ा है। इसी के आदर्श पर जैन कवि जयवल्लभ ने 'वज्जालग्गं' नामक प्राकृत सुभाषितों का संग्रह तैयार किया, जिसकी लगभग 800 गाथाओं में से कोई 80 गाथाएँ इसी कोश से उद्धृत की गई हैं। संस्कृत में गोवर्धनाचार्य (11वीं-12वीं शती) ने इसी के अनुकरण पर आर्यासप्तशती की रचना की। हिंदी में तुलसीसतसई और बिहारी सतसई संभवत: इसी रचना से प्रभावित हुई हैं।

प्राकृत में जिस प्रकार सेतुबंध की ख्याति काव्य की दृष्टि से रही है, उसी प्रकार लीलावती की प्रसिद्धि कथा की दृष्टि से पाई जाती है। भोजदेव, हेमचंद्र, वाग्भट्ट आदि संस्कृत के अलंकार शास्त्रकारों ने गद्यमयी कथा का उदाहरण कादम्बरी और पद्यमयी कथा का लीलावती को दिया है। उद्योतनसूरि ने अपनी कुवलयमाला नामक कथा में कौतूहलकृत प्राकृत भाषा रचित एवं मरहट्ठ देशीवचन निबद्ध शुद्ध सकलकथा का उल्लेख किया है, जिससे इसी रचना का अभिप्राय सिद्ध होता है। उससे इसके कर्ता का नाम कौतूहल और रचनाकाल 778 ई. से पूर्व का निश्चय हो जाता है। यह रचना कुछ वर्ष पूर्व ही प्रकाश में आई है (भारतीय विद्याभवन, बंबई 1949) इसमें कोई परिच्छेदादि विभाग नहीं हैं। लगातार 13000 से कुछ अधिक गाथाओं में कथा समाप्त हुई है। 1330वीं गाथा में कवि ने स्वयं कहा है कि उन्होंने इसकी रचना महाराष्ट्री प्राकृत में की है (रइयं मरहट्ठ देसि भासाए)। इस कथा के नायक अस्मक देश के प्रतिष्ठाननगर के राजा सातवाहन हैं। एक महा घटनाचक्र के पश्चात् उनका विवाह सिंहल के राजा शिलामेघ की राजकुमारी लीलावती से हुआ। उनके मंत्रियों के नाम यहाँ पोट्टिस और कुमारिल बतलाए गए हैं। ये दोनों नाम गाथासप्तशती व

गाथाओं के कर्ताओं में भी पाए जाते हैं। इससे इस बात की भी पुष्टि होती है कि इस कथा के कर्ता सातवाहन, शालिवाहन या हाल ही हैं ये तीनों ही नाम इस कथा में यत्र-तत्र आए हैं। कथा बड़ी सरल और सरस शैली में वर्णित है।

महाराष्ट्री प्राकृत का एक उत्कृष्ट काव्य है गउडवहो (गौडवध) जिसके कर्ता वाक्पतिराज ने अपने को कान्यबुज नरेश यशोवर्मा का समकालीन कहा है। उन्होंने भास, संबंधु, हरिच एवं भवभूति आदि कवियों का उल्लेख भी किया है। इन सब लेखों पर से इनका समय 8 वीं शती ई. अनुमान किया जा सकता। इस काव्य में भी कोई परिच्छेद नहीं है। लगातार 1200 से कुछ ऊपर गाथाएँ हैं, जिनमें राजा यशोवर्मा के प्रताप और उनकी जययात्र तथा गौड़देश के राजा के वध का वर्णन किया गया है।

प्राकृत काव्यरचना की परंपरा 18वीं शती तक बताई जाती है। इस शताब्दी के प्रसिद्ध प्राकृत कवि हैं रामपाणिवाद (ई. 1707 से 1775) जिनकी दो प्राकृत रचनाएँ सुप्रसिद्ध हैं। एक है कंसवहो (कंसवध) जिसके चार सर्गो में उद्धव के द्वारा कृष्ण और बलराम को धनुषयज्ञ के बहाने गोकुल से मथुरा ले जाने और उनके द्वारा कंस की मृत्यु का वर्णन भागवत की कथा के आधार किया गया है। शैली में कालिदास, भारवि तथा माघ की रचनाओं का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। रामपाणिवाद का दूसरा प्राकाव्य है उषानिरुद्धं, जिसमें प्रद्युम्न के पुत्र अनिरुद्ध का बाणाकी पुत्री उषा से विवाह का वर्णन चार सर्गो में किया गया है। यह कथानक भी भागवतादि पुराणों पर आश्रित है, किंतु कवि ने अपनी काव्य प्रतिभा से अच्छा सजाया है। सुदूरवर्ती केरल में 18वीं शती में शुद्ध प्राकृत की ये काव्य रचनाएँ इस बात का प्रमाण हैं कि प्राकृत के पठन-पाठन तथा काव्य सृजन का प्रवाह परिस्थिति के अनुसार तीव्र और मंद भले ही पड़ा हो, किंतु वह सर्वथा सूखा नहीं है।

प्राकृत साहित्य का महत्त्व

इस प्रकार प्राकृत साहित्य अपने रूप एवं विषय की दृष्टि से बड़ा महत्त्वपूर्ण है तथा भारतीय संस्कृति के सर्वांग परिशीलन के लिये उसका स्थान अद्वितीय है। उसमें उन लोकभाषाओं का प्रतिनिधित्व किया जाता है, जिन्होंने वैदिक काल एवं संभवतः उससे भी पूर्वकाल से लेकर देश के नाना भागों को गंगा यमुना आदि महानदियों के अनुमान प्लावित किया है और उसकी साहित्यभूमि को उर्वरा बनाया हैं। ई. पूर्व छठी शती से लेकर प्रायः वर्तमान तक

प्राकृत भाषाओं में ग्रंथ रचना होती चली आई है, यद्यपि शास्त्रीय दृष्टि से उन भाषाओं का विकास ई. सन् 1000 तक ही माना जाता है, क्योंकि उसके पश्चात् हिंदी, गुजराती, मराठी, बँगला, आदि आधुनिक भाषाओं का युग प्रारंभ होता है। मगध से लेकर दरद प्रदेश (पश्चिमोत्तर भारत) तथा हिमालय से लेकर सिंहल द्वीप तक की नानाविध लोक भाषाओं का स्वरूप प्राकृत में सुरक्षित है। इस साहित्य का बहु भाग यद्यपि जैन धर्म विषयक है, तथापि उसमें तत्कालीन लोकजीवन ऐसा प्रतिबिंबित है जैसा अन्यत्र दुर्लभ है। इसमें नानाकालीन एवं नानादेशीय ऐतिहासिक, राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक आदि महत्त्वपूर्ण झाँकियाँ दिखाई देती है, जिनका भारतीय इतिहास में यथोचित मूल्यांकन करना अभी शेष है। भाषाओं के अतिरिक्त देश के धार्मिक, दार्शनिक व नैतिक विकास की परम्परा और उसकी गुत्थियों को स्पष्टता से समझने में इस साहित्य से बहुमूल्य सहायता मिल सकती है। यह महत्त्वपूर्ण साहित्य अभी तक पूर्णत: प्रकाशित नहीं हो सका है। जितना भाग प्रकाशित हुआ है उसका भी समालोचनात्मक रीति से संपादन बहुत कम हुआ है वैज्ञानिक तथा तुलनात्मक अध्ययन भी बहुत शेष है।

5

हिंदी साहित्य

हिन्दी भारत और विश्व में सर्वाधिक बोली जाने वाली भाषाओं में से एक है। उसकी जड़ें प्राचीन भारत की संस्कृत भाषा में तलाशी जा सकती हैं। परंतु हिन्दी साहित्य की जड़ें मध्ययुगीन भारत की अवधी, मागधी , अर्धमागधी तथा मारवाड़ी जैसी भाषाओं के साहित्य में पायी जाती हैं। हिंदी में गद्य का विकास बहुत बाद में हुआ और इसने अपनी शुरुआत कविता के माध्यम से जो कि ज्यादातर लोकभाषा के साथ प्रयोग कर विकसित की गई। हिंदी का आरंभिक साहित्य अपभ्रंश में मिलता है। हिंदी में तीन प्रकार का साहित्य मिलता है। गद्य पद्य और चम्पू। हिंदी की पहली रचना कौन सी है इस विषय में विवाद है लेकिन ज्यादातर साहित्यकार देवकीनन्दन खत्री द्वारा लिखे गये उपन्यास चंद्रकांता को हिन्दी की पहली प्रामाणिक गद्य रचना मानते हैं।

हिंदी साहित्य का इतिहास

नंद मौर्य राजवंश हिन्दी साहित्य के अब तक लिखे गए इतिहासों में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा लिखे गए हिन्दी साहित्य का इतिहास को सबसे प्रामाणिक तथा व्यवस्थित इतिहास माना जाता है। आचार्य शुक्ल जी ने इसे हिन्दी शब्दसागर की भूमिका के रूप में लिखा था। जिसे बाद में स्वतंत्र पुस्तक के रूप में 1929 ई0 में प्रकाशित आंतरित कराया गया। आचार्य शुक्ल ने गहन शोध और चिन्तन के बाद हिन्दी साहित्य के पूरे इतिहास पर विहंगम दृष्टि डाली है।

इतिहास-लेखन में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल एक ऐसी क्रमिक पद्धति का अनुसरण करते हैं, जो अपना मार्ग स्वयं प्रशस्त करती चलती है। विवेचन में तर्क का क्रमबद्ध विकास ऐसे है कि तर्क का एक-एक चरण एक-दूसरे से जुड़ा हुआ, एक-दूसरे में से निकलता दिखता है। लेखक को अपने तर्क पर इतना गहन विश्वास है कि आवेश की उसे अपेक्षा नहीं रह जाती।

आदिकाल से लेकर आधुनिक काल तक आचार्य शुक्ल का इतिहास इसी प्रकार तथ्याश्रित और तर्कसम्मत रूप में चलता है। अपनी आरम्भिक उपपत्ति में आचार्य शुक्ल ने बताया है कि साहित्य जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिम्बित होता है। इन्हीं चित्तवृत्तियों की परम्परा को परखते हुए साहित्य-परम्परा के साथ उनका सामंजस्य दिखाने में आचार्य शुक्ल का इतिहास और आलोचना-कर्म निहित है।

इस इतिहास की एक बड़ी विशेषता है कि आधुनिक काल के सन्दर्भ में पहुँचकर शुक्ल जी ने यूरोपीय साहित्य का एक विस्तृत, यद्यपि कि सांकेतिक ही, परिदृश्य खड़ा किया है। इससे उनके ऐतिहासिक विवेचन में स्रोत, सम्पर्क और प्रभावों की समझ स्पष्टतर होती है।

परिचय

शुक्ल जी ने इतिहास लेखन का यह कार्य कई चरणों में पूरा किया था। सबसे पहले उन्होंने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में छात्रों को पढ़ाने हेतु साहित्य के इतिहास पर संक्षिप्त नोट तैयार किया था। इस संक्षिप्त नोट के बारे में शुक्लजी ने खुद लिखा है, शजिनमें (नोट में) परिस्थिति के अनुसार शिक्षित जनसमूह की बदलती हुई प्रवृत्तियों को लक्ष्य करके हिन्दी साहित्य के इतिहास के कालविभाग और रचना की भिन्न-भिन्न शाखाओं के निरुपण का एक कच्चा ढाँचा खड़ा किया गया था। 'इसी समय के आसपास हिन्दी शब्दसागर का कार्य पूर्ण हुआ और यह निश्चय किया गया कि भूमिका के रूप में 'हिन्दी भाषा का विकास' और 'हिन्दी साहित्य का विकास' दिया जाएगा। आचार्य शुक्ल ने एक नियत समय के भीतर हिन्दी साहित्य का विकास लिखा। कहना न होगा कि इस कार्य में उन्होंने संक्षिप्त नोट से भरपूर मदद ली। इस तरह हिन्दी साहित्य के इतिहास का एक कच्चा ढाँचा तैयार तो हो गया, परन्तु शुक्ल जी इससे पूरी तरह सन्तुष्ट न थे।

आचार्य शुक्ल द्वारा लिखी गई शब्दसागर की भूमिका से पूर्व साहित्येहितासनुमा कुछ पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी थीं। गार्सा द तासी, शिवसिंह सेंगर, ग्रियर्सन आदि इस क्षेत्र में कुछ प्रयास कर चुके थे। नागरी प्रचारिणी सभा ने 1900 से 1913 ई. तक पुस्तकों की खोज का कार्य व्यापक पैमाने पर किया था। इस कार्य से अनेक ज्ञात-अज्ञात रचनाओं और रचनाकारों का पता चला था। इस सामग्री का उपयोग कर मिश्रबन्धुओं ने 'मिश्रबंधु-विनोद' तैयार किया था। रीतिकालीन कवियों के परिचयात्मक विवरण देने में शुक्ल जी ने मिश्र बन्धुविनोद का भरपूर उपयोग किया था। एक तरह से देखा जाये तो आचार्य शुक्ल के साहित्येतिहास लेखन से पूर्व दो प्रकार के साहित्यिक स्रोत मौजूद थे। एक तो खुद शुक्लजी द्वारा तैयार की गई नोट और भूमिका तथा दूसरे, अन्य विद्वानों द्वारा लिखी गई पुस्तकें। इन सबकी मदद से आचार्य शुक्ल ने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' लिखा जो 'शब्द सागर' की भूमिका के छः महीने बाद 1929 ई. में प्रकाशित हुआ। आगे चलकर हिंदी साहित्य का इतिहास पुस्तक का ऑनलाइन संपादन प्रमुख लेखक तथा भाषा शिक्षक डॉ. सुरेश कुमार मिश्रा, रंगारेड्डी आंध्र प्रदेश के नेतृत्व दल में संपन्न हुआ।

'हिन्दी साहित्य का इतिहास' का संशोधित और प्रवर्धित संस्करण सन् 1940 में निकला। यह संस्करण प्रथम संस्करण से भिन्न था। इस संस्करण में अन्य चीजों के अलावा 1940 ई. तक के साहित्य का आलोचनात्मक विवरण भी दे दिया गया था। अब यह साहित्येतिहास की पुस्तक एक मुकम्मल पुस्तक का रूप ले चुकी थी।

संरचना

इस ग्रन्थ में आदिकाल यानी वीरगाथा काल का अपभ्रंश काव्य एवं देश की भाषा काव्य के विवरण के बाद भक्तिकाल की ज्ञानमार्गी, प्रेममार्गी, रामभक्ति शाखा, कृष्णभक्ति शाखा तथा इस काल की अन्य रचनाओं को अपने अध्ययन का केन्द्र बनाया है। इसके बाद के रीतिकाल के सभी लेखक-कवियों के साहित्य को इसमें समाहित किया है। अध्ययन को आगे बढ़ाते हुए आधुनिक काल के गद्य साहित्य, उसकी परंपरा तथा उत्थान के साथ काव्य को अपने विवेचन केन्द्र में रखा है।

प्रथम संस्करण का वक्तव्य

संशोधित और परिवर्धित संस्करण के सम्बन्ध में दो बातें–

काल विभाग

आदिकाल (वीरगाथा, काल संवत् 1050–1375)

1. सामान्य परिचय
2. अपभ्रंश काव्य
3. देशभाषा काव्य
4. फुटकर रचनाएँ।

पूर्व–मध्यकाल (भक्तिकाल, संवत् 1375–1700)–

1. सामान्य परिचय
2. ज्ञानाश्रयी शाखा
3. प्रेममार्गी (सूफी) शाखा
4. रामभक्ति शाखा
5. कृष्णभक्ति शाखा
6. भक्तिकाल की फुटकर रचनाएँ

उत्तर मध्यकाल (रीतिकाल, संवत् 1700–1900)–

1. सामान्य परिचय
2. रीति ग्रन्थकार कवि
3. रीतिकाल के अन्य कवि।

आधुनिक काल (गद्यकाल, संवत् 1900–1980)–

1. सामान्य परिचय–गद्य का विकास
2. गद्य साहित्य का आविर्भाव
3. आधुनिक गद्यसाहित्य परम्परा का प्रवर्तन प्रथम उत्थान (संवत् 1925–1950)
4. गद्य साहित्य परम्परा का प्रवर्तन–प्रथम उत्थान
5. गद्य साहित्य का प्रसार द्वितीय उत्थान (संवत् 1950–1975)
6. गद्य साहित्य का प्रसार
7. गद्य साहित्य की वर्तमान गति तृतीय उत्थान (संवत् 1975 से)

काव्यखण्ड (संवत् 1900–1925)

काव्यखण्ड (संवत् 1925–1950)

काव्यखण्ड (संवत् 1950–1975)

काव्यखण्ड (संवत् 1975)

हिंदी साहित्य का आरंभ आठवीं शताब्दी से माना जाता है। यह वह समय है जब सम्राट् हर्ष की मृत्यु के बाद देश में अनेक छोटे-छोटे शासन केंद्र स्थापित हो गए थे जो परस्पर संघर्षरत रहा करते थे। विदेशी मुसलमानों से भी इनकी टक्कर होती रहती थी। हिन्दी साहित्य के विकास को आलोचक सुविधा के लिये पाँच ऐतिहासिक चरणों में विभाजित कर देखते हैं, जो क्रमवार निम्नलिखित है:-

आदिकाल (1375/1375) विक्रम संवत से पहले)
भक्ति काल (1375-1700)/1375-1700)
रीति काल (1700-1900)(1700-1900)
आधुनिक काल (1850ध1850 ईस्वी के पश्चात)
नव्योत्तर काल (1980ध1 9 80 ईस्वी के पश्चात)
आदिकाल (1050 विक्रमी संवत से 1375 विक्रमी संवत)

आदिकाल

हिन्दी साहित्य आदिकालको आलोचक 1400 ईसवी से पूर्व का काल मानते हैं जब हिन्दी का उद्भव हो ही रहा था। हिन्दी की विकास-यात्र दिल्ली, कन्नौज और अजमेर क्षेत्रों में हुई मानी जाती है। पृथ्वीराज चौहान का उस समय दिल्ली में शासन था और चंदबरदाई नामक उसका एक दरबारी कवि हुआ करता था। चंदबरदाई की रचना 'पृथ्वीराजरासो' है, जिसमें उन्होंने अपने मित्र पृथ्वीराज की जीवन गाथा कही है। 'पृथ्वीराज रासो' हिंदी साहित्य में सबसे बृहत् रचना मानी गई है। कन्नौज का अंतिम राठौड़ शासक जयचंद था जो संस्कृत का बहुत बड़ा संरक्षक था।

भक्ति काल (1375 विक्रमी संवत-1700 विक्रमी संवत)

हिन्दी साहित्य का भक्ति काल 1375 वि0 से 1500 वि0 तक माना जाता है। यह काल प्रमुख रूप से भक्ति भावना से ओतप्रोत काल है। इस काल को समृद्ध बनाने वाली दो काव्य-धाराएं हैं -1.निर्गुण भक्तिधारा तथा 2.सगुण भक्तिधारा। निर्गुण भक्तिधारा को आगे दो हिस्सों में बाँटा जा सकता है, संत काव्य (जिसे ज्ञानाश्रयी शाखा के रूप में जाना जाता है,इस शाखा के प्रमुख कवि , कबीर, नानक, दादूदयाल, रैदास, मलूकदास, सुन्दरदास, धर्मदास आदि हैं।

निर्गुण भक्तिधारा का दूसरा हिस्सा सूफी काव्य का है। इसे प्रेमाश्रयी शाखा भी कहा जाता है। इस शाखा के प्रमुख कवि हैं- मलिक मोहम्मद जायसी, कुतुबन, मंझन, शेख नबी, कासिम शाह, नूर मोहम्मद आदि।

भक्तिकाल की दूसरी धारा को सगुण भक्ति धारा के रूप में जाना जाता है। सगुण भक्तिधारा दो शाखाओं में विभक्त है- रामाश्रयी शाखा, तथा कृष्णाश्रयी शाखा। रामाश्रयी शाखा के प्रमुख कवि हैं- तुलसीदास, अग्रदास, नाभादास, केशवदास, हृदयराम, प्राणचंद चौहान, महाराज विश्वनाथ सिंह, रघुनाथ सिंह।

कृष्णाश्रयी शाखा के प्रमुख कवि हैं- सूरदास, नंददास, कुम्भनदास, छीतस्वामी, गोविन्द स्वामी, चतुर्भुज दास, कृष्णदास, मीरा, रसखान, रहीम आदि। चार प्रमुख कवि जो अपनी-अपनी धारा का प्रतिनिधित्व करते हैं। ये कवि हैं (क्रमशः)

कबीरदास (1399)-(1518)

मलिक मोहम्मद जायसी (1477-1542)

सूरदास (1478-1580)

तुलसीदास (1532-1602)

रीति काल

सन् 1700 ई.(1757 विक्रमी संवत) के आस-पास हिंदी कविता में एक नया मोड़ आया। इसे विशेषतः तात्कालिक दरबारी संस्कृति और संस्कृत साहित्य से उत्तेजना मिली। संस्कृत साहित्यशास्त्र के कतिपय अंशों ने उसे शास्त्रीय अनुशासन की ओर प्रवृत्त किया। हिंदी में 'रीति' या 'काव्यरीति' शब्द का प्रयोग काव्यशास्त्र के लिए हुआ था। इसलिए काव्यशास्त्रबद्ध सामान्य सृजनप्रवृत्ति और रस, अलंकार आदि के निरूपक बहुसंख्यक लक्षणग्रंथों को ध्यान में रखते हुए इस समय के काव्य को 'रीतिकाव्य' कहा गया। इस काव्य की शृंगारी प्रवृत्तियों की पुरानी परंपरा के स्पष्ट संकेत संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, फारसी और हिंदी के आदिकाव्य तथा कृष्णकाव्य की शृंगारी प्रवृत्तियों में मिलते हैं।

इस काल में कई कवि ऐसे हुए हैं, जो आचार्य भी थे और जिन्होंने विविध काव्यांगों के लक्षण देने वाले ग्रंथ भी लिखे। इस युग में शृंगार की प्रधानता रही। यह युग मुक्तक-रचना का युग रहा। मुख्यतया कवित्त, सवैये और दोहे इस युग में लिखे गए।

राजा-महाराजा और आश्रयदाता अब केवल काव्यों को पढ़ और सुनकर ही संतुष्ट नहीं होते थे, बल्कि अब वह स्वयं काव्य रचना करना चाहते थे। इस समय पर कवियों ने आचार्य का कर्त्तव्य निभाया।

कवि राजाश्रित होते थे इसलिए इस युग की कविता अधिकतर दरबारी रही जिसके फलस्वरूप इसमें चमत्कारपूर्ण व्यंजना की विशेष मात्र तो मिलती है परंतु कविता साधारण जनता से विमुख भी हो गई।

रीतिकाल के अधिकांश कवि दरबारी थे। केशवदास (ओरछा), प्रताप सिंह (चरखारी), बिहारी (जयपुर, आमेर), मतिराम (बूँदी), भूषण (पन्ना), चिंतामणि (नागपुर), देव (पिहानी), भिखारीदास (प्रतापगढ़-अवध), रघुनाथ (काशी), बेनी (किशनगढ़), गंग (दिल्ली), टीकाराम (बड़ौदा), ग्वाल (पंजाब), चन्द्रशेखर बाजपेई (पटियाला), हरनाम (कपूरथला), कुलपति मिश्र (जयपुर), नेवाज (पन्ना), सुरति मिश्र (दिल्ली), कवीन्द्र उदयनाथ (अमेठी), ऋषिनाथ (काशी), रतन कवि (श्रीनगर-गढ़वाल), बेनी बन्दीजन (अवध), बेनी प्रवीन (लखनऊ), ब्रह्मदत्त (काशी), ठाकुर बुन्देलखण्डी (जैतपुर), बोधा (पन्ना), गुमान मिश्र (पिहानी) आदि और अनेक कवि तो राजा ही थे, जैसे- महाराज जसवन्त सिंह (तिर्वा), भगवन्त राय खीची, भूपति, रसनिधि (दतिया के जमींदार), महाराज विश्वनाथ, द्विजदेव (महाराज मानसिंह)।

रीतिकाव्य रचना का आरंभ एक संस्कृतज्ञ ने किया। ये थे आचार्य केशवदास, जिनकी सर्वप्रसिद्ध रचनाएँ कविप्रिया, रसिकप्रिया और रामचंद्रिका हैं। कविप्रिया में अलंकार और रसिकप्रिया में रस का सोदाहरण निरूपण है। लक्षण दोहों में और उदाहरण कवित्तसवैए में हैं। लक्षण-लक्ष्य-ग्रंथों की यही परंपरा रीतिकाव्य में विकसित हुई। रामचंद्रिका केशव का प्रबंधकाव्य है, जिसमें भक्ति की तन्मयता के स्थान पर एक सजग कलाकार की प्रखर कला चेतना प्रस्फुटित हुई। केशव के कई दशक बाद चिंतामणि से लेकर अठारहवीं सदी तक हिंदी में रीतिकाव्य का अजस्र स्रोत प्रवाहित हुआ जिसमें नर-नारी-जीवन के रमणीय पक्षों और तत्संबंधी सरस संवेदनाओं की अत्यंत कलात्मक अभिव्यक्ति व्यापक रूप में हुई। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने रीतिकाव्य का शुरूआत केशवदास से न मानकर चिन्तामणि से माना है। उनका कहना है कि -'केशवदास जी ने काव्य के सब अंगो का निरूपण शास्त्रीय पद्धति पर किया। यह नि:सन्देह है कि काव्यरीति का सम्यक समावेश पहले पहल ऑकेशव ने ही किया। हिन्दी में रीतिग्रन्थों की अविरल और अखंडित परम्परा का प्रवाह केशव की श्कविप्रिया ' के प्राय:पचास वर्ष पीछे चला और वह भी एक भिन्न आदर्श को लेकर केशव के आदर्श को लेकर नहीं द्य' वे कहते है कि-षहिन्दी रीतिग्रन्थो की अखण्ड परम्परा चिन्तामणि त्रि.से चली, अत:रीतिकाल का आरम्भ उन्हीं से मानना चाहिए।

परिचय

रीतिकाल के कवि राजाओं और रईसों के आश्रय में रहते थे। वहाँ मनोरंजन और कलाविलास का वातावरण स्वाभाविक था। बौद्धिक आनंद का मुख्य साधन वहाँ उक्तिवैचित्रय समझा जाता था। ऐसे वातावरण में लिखा गया, साहित्य अधिकतर शृंगारमूलक और कलावैचित्रय से युक्त था। पर इसी समय प्रेम के स्वच्छंद गायक भी हुए, जिन्होंने प्रेम की गहराइयों का स्पर्श किया है। मात्र और काव्यगुण दोनों ही दृष्टियों से इस समय का नर-नारी-प्रेम और सौंदर्य की मार्मिक व्यंजना करनेवाला काव्यसाहित्य महत्त्वपूर्ण है।

इस समय वीरकाव्य भी लिखा गया। मुगल शासक औरंगजेब की कट्टर सांप्रदायिकता और आक्रामक राजनीति की टकराहट से इस काल में जो विक्षोभ की स्थितियाँ आई उन्होंने कुछ कवियों को वीरकाव्य के सृजन की भी प्रेरणा दी। ऐसे कवियों में भूषण प्रमुख हैं, जिन्होंने रीतिशैली को अपनाते हुए भी वीरों के पराक्रम का ओजस्वी वर्णन किया। इस समय नीति, वैराग्य और भक्ति से संबंधित काव्य भी लिखा गया। अनेक प्रबंधकाव्य भी निर्मित हुए। इधर के शोधकार्य में इस समय की शृंगारेतर रचनाएँ और प्रबंधकाव्य प्रचुर परिमाण में मिल रहे हैं। इसलिए रीतिकालीन काव्य को नितांत एकांगी और एकरूप समझना उचित नहीं है। इस समय के काव्य में पूर्ववर्ती कालों की सभी प्रवृत्तियाँ सक्रिय हैं। यह प्रधान धारा शृंगारकाव्य की है, जो इस समय की काव्यसंपत्ति का वास्तविक निदर्शक मानी जाती रही है। शृंगारी काव्य तीन वर्गों में विभाजित किया जाता है। पहला वर्ग रीतिबद्ध कवियों का है, जिसके प्रतिनिधि केशव, चिंतामणि, भिखारीदास, देव, मतिराम और पद्माकर आदि हैं। इन कवियों ने दोहों में रस, अलंकार और नायिका के लक्षण देकर कवित्त सवैए में प्रेम और सौंदर्य की कलापूर्ण मार्मिक व्यंजना की है। संस्कृत साहित्यशास्त्र में निरूपित शास्त्रीय चर्चा का अनुसरण मात्र इनमें अधिक है। पर कुछ ने थोड़ी मौलिकता भी दिखाई है, जैसे भिखारीदास का हिंदी छंदों का निरूपण। दूसरा वर्ग रीतिसिद्ध कवियों का है। इन कवियों ने लक्षण नहीं निरूपित किए, केवल उनके आधार पर काव्यरचना की। बिहारी इनमें सर्वश्रेष्ठ हैं, जिन्होंने दोहों में अपनी 'सतसई' प्रस्तुत की। विभिन्न मुद्राओं वाले अत्यंत व्यंजक सौंदर्यचित्रों और प्रेम की भावदशाओं का अनुपम अंकन इनके काव्य में मिलता है। तीसरे वर्ग में घनानंद, बोधा, द्विजदेव ठाकुर आदि रीतिमुक्त कवि आते हैं, जिन्होंने

स्वच्छंद प्रेम की अभिव्यक्ति की है। इनकी रचनाओं में प्रेम की तीव्रता और गहनता की अत्यंत प्रभावशाली व्यंजना हुई है।

रीतिकाव्य मुख्यत: मांसल शृंगार का काव्य है। इसमें नर-नारीजीवन के रमणीय पक्षों का सुंदर उद्‌घाटन हुआ है। अधिक काव्य मुक्तक शैली में है, पर प्रबंधकाव्य भी हैं। इन दो सौ वर्षों में शृंगारकाव्य का अपूर्व उत्कर्ष हुआ। पर धीरे धीरे रीति की जकड़ बढ़ती गई और हिंदी काव्य का भावक्षेत्र संकीर्ण होता गया। आधुनिक युग तक आते आते इन दोनों कमियों की ओर साहित्यकारों का ध्यान विशेष रूप से आकृष्ट हुआ।

इतिहास साक्षी है कि अपने पराभव काल में भी यह युग वैभव विकास का था। मुगल दरबार के हरम में पाँच-पाँच हजार रूपसियाँ रहती थीं। मीना बाजार लगते थे, सुरा-सुन्दरी का उन्मुक्त व्यापार होता था। डॉ. नगेन्द्र लिखते हैं- 'वासना का सागर ऐसे प्रबल वेग से उमड़ रहा था कि शुद्धिवाद सम्राट के सभी निषेध प्रयत्न उसमें बह गये। अमीर-उमराव ने उसके निषेध पत्रों को शराब की सुराही में गर्क कर दिया। विलास के अन्य साधन भी प्रचुर मात्र में थे।' पद्‌माकर ने एक ही छन्द में तत्कालीन दरबारों की रूपरेखा का अंकन कर दिया है-

गुलगुली गिल में गलीचा हैं, गुनीजन हैं,
चाँदनी है, चिक है चिरागन की माला हैं।
कहैं पद्‌माकर त्यौं गजक गिजा है सजी
सेज हैं सुराही हैं सुरा हैं और प्याला हैं।
सिसिर के पाला को व्यापत न कसाला तिन्हें,
जिनके अधीन ऐते उदित मसाला हैं।
तान तुक ताला है, विनोद के रसाला है,
सुबाला हैं, दुसाला हैं विसाला चित्रसाला हैं।

ऐहलौकिकता, श्रृंगारिकता, नायिकाभेद और अलंकार-प्रियता इस युग की प्रमुख विशेषताएँ हैं। प्राय: सब कवियों ने ब्रज-भाषा को अपनाया है। स्वतंत्र कविता कम लिखी गई, रस, अलंकार वगैरह काव्यांगों के लक्षण लिखते समय उदाहरण के रूप में - विशेषकर शृंगार के आलंबनों एवं उद्दीपनों के उदाहरण के रूप में - सरस रचनाएँ इस युग में लिखी गईं। भूषण कवि ने वीर रस की रचनाएँ भी दीं। भाव-पक्ष की अपेक्षा कला-पक्ष अधिक समृद्ध रहा। शब्द-शक्ति पर विशेष ध्यान नहीं दिया गया, न नाटयशास्त्र का विवेचन किया गया। विषयों का संकोच हो गया और मौलिकता का हास होने लगा। इस समय अनेक कवि

हुए- केशव, चिंतामणि, देव, बिहारी, मतिराम, भूषण, घनानंद, पद्माकर आदि। इनमें से केशव, बिहारी और भूषण को इस युग का प्रतिनिधि कवि माना जा सकता है। बिहारी ने दोहों की संभावनाओं को पूर्ण रूप से विकसित कर दिया। आपको रीति-काल का प्रतिनिधि कवि माना जा सकता है।

इस काल के कवियों को तीन श्रेणियों में बाँटा जा सकता है–

(1) रीतिबद्ध कवि

(2) रीतिमुक्त कवि

(3) रीतिसिद्ध कवि।

विद्वानों का यह भी मत हॅ कि इस काल के कवियों ने काव्य में मर्यादा का पूर्ण पालन किया है। घोर श्रृंगारी कविता होने पर भी कहीं भी मर्यादा का उल्लंघन देखने को नहीं मिलता है।

आधुनिक काल

हिंदी साहित्य का आधुनिक काल तत्कालीन राजनैतिक गतिविधियों से प्रभावित हुआ। haibldks हिंदी साहित्य का सर्वश्रेष्ठ युग माना जा सकता है, जिसमें पद्य के साथ-साथ गद्य, समालोचना, कहानी, नाटक व पत्रकारिता का भी विकास हुआ।

सं 1800 वि. के उपरांत भारत में अनेक यूरोपीय जातियाँ व्यापार के लिए आई। उनके संपर्क से यहां पाश्चात्य सभ्यता का प्रभाव पड़ना प्रारंभ हुआ। विदेशियों ने यहां के देशी राजाओं की पारस्परिक फूट से लाभ उठाकर अपने पैर जमाने में सफलता प्राप्त की। जिसके परिणाम-स्वरूप यहां पर ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना हुई। अंग्रेजों ने यहां अपने शासन कार्य को सुचारु रूप से चलाने एवं अपने धर्म-प्रचार के लिए जन-साधारण की भाषा को अपनाया। इस कार्य के लिए गद्य ही अधिक उपयुक्त होती है। इस कारण आधुनिक युग की मुख्य विशेषता गद्य की प्रधानता रही। इस काल में होने वाले मुद्रण कला के आविष्कार ने भाषा-विकास में महान योगदान दिया। स्वामी दयानंद ने भी आर्य समाज के ग्रंथों की रचना राष्ट्रभाषा हिंदी में की और अंग्रेज मिशनरियों ने भी अपनी प्रचार पुस्तकें हिंदी गद्य में ही छपवाईं। इस तरह विभिन्न मतों के प्रचार कार्य से भी हिंदी गद्य का समुचित विकास हुआ।

इस काल में राष्ट्रीय भावना का भी विकास हुआ। इसके लिए श्रृंगारी ब्रजभाषा की अपेक्षा खड़ी बोली उपयुक्त समझी गई। समय की प्रगति के साथ

गद्य और पद्य दोनों रूपों में खड़ी बोली का पर्याप्त विकास हुआ। भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र तथा बाबू अयोध्या प्रसाद खत्रीने खड़ी बोली के दोनों रूपों को सुधारने में महान प्रयत्न किया। उन्होंने अपनी सर्वतोन्मुखी प्रतिभा द्वारा हिंदी साहित्य की सम्यक संवर्धना की।

इस काल के आरंभ में राजा लक्ष्मण सिंह, भारतेंदु हरिश्चंद्र, जगन्नाथ दास रत्नाकर, श्रीधर पाठक, रामचंद्र शुक्ल आदि ने ब्रजभाषा में काव्य रचना की। इनके उपरांत भारतेंदु जी ने गद्य का समुचित विकास किया और आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने इसी गद्य को प्रांजल रूप प्रदान किया। इसकी सत्प्रेरणाओं से अन्य लेखकों और कवियों ने भी अनेक भांति की काव्य रचना की। इनमें मैथिलीशरण गुप्त, रामचरित उपाध्याय, नाथूराम शर्मा शंकर, ला. भगवान दीन, रामनरेश त्रिपाठी, जयशंकर प्रसाद, गोपाल शरण सिंह, माखन लाल चतुर्वेदी, अनूप शर्मा, रामकुमार वर्मा, श्याम नारायण पांडेय, दिनकर, सुभद्रा कुमारी चौहान, महादेवी वर्मा आदि का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। भारत की स्वतंत्रता प्राप्ति के प्रभाव से हिंदी-काव्य में भी स्वच्छंद (अतुकांत) छंदों का प्रचलन हुआ।

इस काल में गद्य-निबंध, नाटक-उपन्यास, कहानी, समालोचना, तुलनात्मक आलोचना, साहित्य आदि सभी रूपों का समुचित विकास हुआ। इस युग के प्रमुख साहित्यकार निम्नलिखित हैं- नवचनंद मुण, शिवराज आनंद

समालोचक

आचार्य द्विवेदी जी, पद्म सिंह शर्मा, विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, आचार्य रामचंद्र शुक्ल,डॉ रामकुमार वर्मा, श्यामसुंदर दास, डॉ रामरतन भटनागर आदि हैं।

कहानी लेखक

प्रेमचंद, विनोद शंकर व्यास, प्रसाद, पंत, गुलेरी, निराला, कौशिक, सुदर्शन, जैनेंद्र, हृदयेश मनु बुंदेली आदि।

उपन्यासकार

प्रेमचंद, प्रतापनारायण श्रीवास्तव, प्रसाद, उग्र, हृदयेश, जैनेंद्र, भगवतीचरण वर्मा, वृंदावन लाल वर्मा, गुरुदत्त आदि ालव दीव।

नाटककार

प्रसाद, सेठ गोविंद दास, गोविंद वल्लभ पंत, लक्ष्मी नारायण मिश्र, उदय शंकर भट्ट, रा उबमकुमार वर्मा आदि हैं।

निबंध लेखक

आचार्य द्विवेदी, माधव प्रसाद शुक्ल, रामचंद्र शुक्ल, बाबू श्यामसुंदर दास, पद्म सिंह, अध्यापक पूर्णसिंह आदि

हिन्दी की विभिन्न बोलियों का साहित्य

भाषा के विकास-क्रम में अपभ्रंश से हिन्दी की ओर आते हुए भारत के अलग-अलग स्थानों पर अलग-अलग भाषा-शैलियां जन्मीं। हिन्दी इनमें से सबसे अधिक विकसित थी, अत: उसको भाषा की मान्यता मिली। अन्य भाषा शैलियां बोलियां कहलाईं। इनमें से कुछ में हिंदी के महान कवियों ने रचना की जैसे तुलसीदास ने रामचरित मानस को अवधी में लिखा और सूरदास ने अपनी रचनाओं के लिए बृज भाषा को चुना, विद्यापति ने मैथिली में और मीराबाई ने राजस्थानी को अपनाया।

हिंदी की विभिन्न बोलियों का साहित्य आज भी लोकप्रिय है और आज भी अनेक कवि और लेखक अपना लेखन अपनी-अपनी क्षेत्रीय भाषाओं में करते हैं।

हिन्दी की अनेक बोलियाँ (उपभाषाएँ) हैं, भारत में कुल 18 बोलियाँ हैं, जिनमें अवधी, ब्रजभाषा, कन्नौजी, बुंदेली, बघेली, हड़ौती, भोजपुरी, हरयाणवी, राजस्थानी, छत्तीसगढ़ी, मालवी, नागपुरी, खोरठा, पंचपरगनिया, कुमाउँनी, मगही आदि प्रमुख हैं। इनमें से कुछ में अत्यंत उच्च श्रेणी के साहित्य की रचना हुई है। ऐसी बोलियों में ब्रजभाषा और अवधी प्रमुख हैं। यह बोलियाँ हिन्दी की विविधता हैं और उसकी शक्ति भी। वे हिन्दी की जड़ों को गहरा बनाती हैं। हिन्दी की बोलियाँ और उन बोलियों की उपबोलियाँ हैं, जो न केवल अपने में एक बड़ी परंपरा, इतिहास, सभ्यता को समेटे हुए हैं, वरन स्वतंत्रता संग्राम, जनसंघर्ष, वर्तमान के बाजारवाद के खिलाफ भी उसका रचना संसार सचेत है।

मोटे तौर पर हिंद (भारत) की किसी भाषा को 'हिंदी' कहा जा सकता है। अंग्रेजी शासन के पूर्व इसका प्रयोग इसी अर्थ में किया जाता था। पर वर्तमानकाल में सामान्यत: इसका व्यवहार उस विस्तृत भूखंड की भाषा के लिए

होता है, जो पश्चिम में जैसलमेर, उत्तर पश्चिम में अंबाला, उत्तर में शिमला से लेकर नेपाल की तराई, पूर्व में भागलपुर, दक्षिण पूर्व में रायपुर तथा दक्षिण-पश्चिम में खंडवा तक फैली हुई है। हिंदी के मुख्य दो भेद हैं -पश्चिमी हिंदी तथा पूर्वी हिंदी।

पश्चिमी और पूर्वी हिंदी

जैसा ऊपर कहा गया है, अपने सीमित भाषाशास्त्रीय अर्थ में हिंदी के दो उपरूप माने जाते हैं - पश्चिमी हिंदी और पूर्वी हिंदी।

पश्चिमी हिन्दी

पश्चिमी हिंदी का विकास शौरसैनी अपभ्रंश से हुआ है। इसके अंतर्गत पाँच बोलियाँ हैं - खड़ी बोली, हरियाणी, ब्रज, कन्नौजी और बुंदेली। खड़ी बोली अपने मूल रूप में मेरठ, रामपुर, मुरादाबाद, सहारनपुर, मुजफ्फरनगर,बिजनौर, के आसपास बोली जाती है। इसी के आधार पर आधुनिक हिंदी और उर्दू का रूप खड़ा हुआ। बांगः को जाटू या हरियाणवी भी कहते हैं। यह पंजाब के दक्षिण पूर्व में बोली जाती है। कुछ विद्वानों के अनुसार बांगरू खड़ी बोली का ही एक रूप है, जिसमें पंजाबी और राजस्थानी का मिश्रण है। ब्रजभाषा मथुरा के आसपास ब्रजमंडल में बोली जाती है। हिंदी साहित्य के मध्ययुग में ब्रजभाषा में उच्च कोटि का काव्य निर्मित हुआ। इसलिए इसे बोली न कहकर आदरपूर्वक भाषा कहा गया। मध्यकाल में यह बोली संपूर्ण हिंदी प्रदेश की साहित्यिक भाषा के रूप में मान्य हो गई थी। पर साहित्यिक ब्रजभाषा में ब्रज के ठेठ शब्दों के साथ अन्य प्रांतों के शब्दों और प्रयोगों का भी ग्रहण है। कन्नौजी गंगा के मध्य दोआब की बोली है। इसके एक ओर ब्रजमंडल है और दूसरी ओर अवधी का क्षेत्र। यह ब्रजभाषा से इतनी मिलती जुलती है कि इसमें रचा गया जो थोड़ा बहुत साहित्य है वह ब्रजभाषा का ही माना जाता है। बुंदेली बुंदेलखंड की उपभाषा है। बुंदेलखंड में ब्रजभाषा के अच्छे कवि हुए हैं, जिनकी काव्यभाषा पर बुंदेली का प्रभाव है।

पूर्वी हिन्दी

पूर्वी हिंदी की तीन शाखाएँ हैं - अवधी, बघेली और छत्तीसगढ़ी। अवधी अर्धमागधी प्राकृत की परंपरा में है। यह अवध में बोली जाती है। इसके दो भेद हैं - पूर्वी अवधी और पश्चिमी अवधी। अवधी को बैसवाड़ी भी कहते हैं।

तुलसी के रामचरितमानस में अधिकांशत: पश्चिमी अवधी मिलती हैं और जायसी के पदमावत में पूर्वी अवधी। बघेली बघेलखंड में प्रचलित है। यह अवधी का ही एक दक्षिणी रूप है। छत्तीसगढ़ी पलामू (बिहार) की सीमा से लेकर दक्षिण में बस्तर तक और पश्चिम में बघेलखंड की सीमा से उड़ीसा की सीमा तक फैले हुए भू-भाग की बोली है। इसमें प्राचीन साहित्य नहीं मिलता। वर्तमान काल में कुछ लोकसाहित्य रचा गया है।

बिहारी, राजस्थानी बिहारी हिंदी के अंतर्गत मगही,भोजपुरी,आदि बोलियां आती हैं और पहाड़ी हिंदी प्रदेश की तीन उपभाषाएँ और हैं - बिहारी,राजस्थानी और पहाड़ी हिंदी।

बिहारी की तीन शाखाएँ हैं - भोजपुरी, मगही और मैथिली। बिहार के एक कस्बे भोजपुर के नाम पर भोजपुरी बोली का नामकरण हुआ। पर भोजपुरी का प्रसार बिहार से अधिक उत्तर प्रदेश में है। बिहार के शाहाबाद, चंपारन और सारन जिले से लेकर गोरखपुर तथा बारस कमिश्नरी तक का क्षेत्र भोजपुरी का है। भोजपुरी पूर्वी हिंदी के अधिक निकट है। हिंदी प्रदेश की बोलियों में भोजपुरी बोलनेवालों की संख्या सबसे अधिक है। इसमें प्राचीन साहित्य तो नहीं मिलता पर ग्रामगीतों के अतिरिक्त वर्तमान काल में कुछ साहित्य रचने का प्रयत्न भी हो रहा है। मगही के केंद्र पटना और गया हैं। इसके लिए कैथी लिपि का व्यवहार होता है। पर आधुनिक मगही साहित्य मुख्यत: देवनागरी लिपि में लिखी जा रही है। मगही का आधुनिक साहित्य बहुत समृद्ध है और इसमें प्राय: सभी विधाओं में रचनाओं का प्रकाशन हुआ है।

मैथिली एक स्वतंत्र भाषा है, जो संस्कृत के करीब होने के कारण हिंदी से मिलती जुलती लगती है। परन्तु, मैथिली हिंदी से अधिक बांग्ला के निकट है।

मैथिली गंगा के उत्तर में दरभंगा के आसपास प्रचलित है। इसकी साहित्यिक परंपरा पुरानी है। विद्यापति के पद प्रसिद्ध ही हैं। मध्ययुग में लिखे मैथिली नाटक भी मिलते हैं। आधुनिक काल में भी मैथिली का साहित्य निर्मित हो रहा है। मैथिली भाषा भारत और नेपाल के संविधान में राजभाषा के रूप में भी दर्ज है। नेपाल में दूसरी सबसे ज्यादा बोली जाने वाली भाषा मैथिली है।

राजस्थानी का प्रसार पंजाब के दक्षिण में है। यह पूरे राजपूताने और मध्य प्रदेश के मालवा में बोली जाती है। राजस्थानी का संबंध एक ओर ब्रजभाषा से है और दूसरी ओर गुजराती से। पुरानी राजस्थानी को डिंगल कहते हैं। जिसमें चारणों का लिखा हिंदी का आरंभिक साहित्य उपलब्ध है। राजस्थानी में गद्य

साहित्य की भी पुरानी परंपरा है। राजस्थानी की चार मुख्य बोलियाँ या विभाषाएँ हैं- मेवाती, मालवी, जयपुरी और मारवाड़ी। मारवाड़ी का प्रचलन सबसे अधिक है। राजस्थानी के अंतर्गत कुछ विद्वान्ड भीली को भी लेते हैं।

पहाड़ी उपभाषा राजस्थानी से मिलती जुलती हैं। इसका प्रसार हिंदी प्रदेश के उत्तर हिमालय के दक्षिणी भाग में नेपाल से शिमला तक है। इसकी तीन शाखाएँ हैं - पूर्वी, मध्यवर्ती और पश्चिमी। पूर्वी पहाड़ी नेपाल की प्रधान भाषा है, जिसे नेपाली और परंबतिया भी कहा जाता है। मध्यवर्ती पहाड़ी कुमायूँ और गढ़वाल में प्रचलित है। इसके दो भेद हैं - कुमाउँनी और गढ़वाली। ये पहाड़ी उपभाषाएँ नागरी लिपि में लिखी जाती हैं। इनमें पुराना साहित्य नहीं मिलता। आधुनिक काल में कुछ साहित्य लिखा जा रहा है। कुछ विद्वान्ज् पहाड़ी को राजस्थानी के अंतर्गत ही मानते हैं। पश्चिमी पहाड़ी हिमाचल प्रदेश में बोली जाती है। इसकी मुख्य उपबोलियों में मंडियाली, कुल्लवी, चाम्बियाली, क्यौंथली, कांगड़ी, सिरमौरी, बघाटी और बिलासपुरी प्रमुख हैं।

प्रयोग-क्षेत्र के अनुसार वर्गीकरण

हिन्दी भाषा का भौगोलिक विस्तार काफी दूर-दूर तक है, जिसे तीन क्षेत्रों में विभक्त किया जा सकता है--

(क) हिन्दी क्षेत्र - हिन्दी क्षेत्र में हिन्दी की मुख्यतः सत्रह बोलियाँ बोली जाती हैं, जिन्हें पाँच बोली वर्गों में इस प्रकार विभक्त कर के रखा जा सकता है- पश्चिमी हिन्दी, पूर्वी हिन्दी, राजस्थानी हिन्दी, पहाडी हिन्दी और बिहारी हिन्दी।

(ख) अन्य भाषा क्षेत्र- इनमें प्रमुख बोलियाँ इस प्रकार हैं- दक्खिनी हिन्दी (गुलबर्गी, बीदरी, बीजापुरी तथा हैदराबादी आदि), बम्बइया हिन्दी, कलकतिया हिन्दी तथा शिलंगी हिन्दी (बाजार-हिन्दी) आदि।

(ग) भारतेतर क्षेत्र - भारत के बाहर भी कई देशों में हिन्दी भाषी लोग काफी बड़ी संख्या में बसे हैं। सीमावर्ती देशों के अलावा यूरोप, अमेरिका, आस्ट्रेलिया, अफ्रीका, रुस, जापान, चीन तथा समस्त दक्षिण पूर्व व मध्य एशिया में हिन्दी बोलने वालों की बहुत बडी संख्या है। लगभग सभी देशों की राजधानियों के विश्वविद्यालयों में हिन्दी एक विषय के रूप में पढी-पढाई जाती है। भारत के बाहर हिन्दी की प्रमुख बोलियाँ - ताजुज्बेकी हिन्दी, मारिशसी हिन्दी, फीजी हिन्दी, सूरीनामी हिन्दी आदि हैं।

6

उर्दू साहित्य

नंद मौर्य राजवंश उर्दू भारत तथा पाकिस्तान की आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में से एक है। इसका विकास मध्ययुग में उत्तरी भारत के उस क्षेत्र में हुआ जिसमें आज पश्चिमी उत्तर प्रदेश, दिल्ली और पूर्वी पंजाब सम्मिलित हैं। इसका आधार उस प्राकृत और अपभ्रंश पर था जिसे 'शौरसेनी' कहते थे और जिससे खड़ीबोली, ब्रजभाषा, हरियाणी और पंजाबी आदि ने जन्म लिया था। मुसलमानों के भारत में आने और पंजाब तथा दिल्ली में बस जाने के कारण इस प्रदेश की बोलचाल की भाषा में फारसी और अरबी शब्द भी सम्मिलित होने लगे और धीरे-धीरे उसने एक पृथक् रूप धारण कर लिया। मुसलमानों का राज्य और शासन स्थापित हो जाने के कारण ऐसा होना स्वाभाविक भी था कि उनके धर्म, नीति, रहन-सहन, आचार-विचार का रंग उस भाषा में झलकने लगे। इस प्रकार उसके विकास में कुछ ऐसी प्रवृत्तियाँ सम्मिलित हो गईं जिनकी आवश्यकता उस समय की दूसरी भारतीय भाषाओं को नहीं थी। पश्चिमी उत्तर प्रदेश और दिल्ली में बोलचाल में खड़ी बोली का प्रयोग होता था। उसी के आधार पर बाद में उर्दू का साहित्यिक रूप निर्धारित हुआ। इसमें काफी समय लगा, अत: देश के कई भागों में थोड़े-थोड़े अंतर के साथ इस भाषा का विकास अपने-अपने ढंग से हुआ।

उर्दू का मूल आधार तो खड़ी बोली ही है, किन्तु दूसरे क्षेत्रों की बोलियों का प्रभाव भी उसपर पड़ता रहा। ऐसा होना ही चाहिए था, क्योंकि आरंभ में इसको बोलनेवाली या तो बाजार की जनता थी अथवा वे सुफी-फकीर थे जो देश के विभिन्न भागों में घूम-घूमकर अपने विचारों का प्रचार करते थे। इसी

कारण इस भाषा के लिए कई नामों का प्रयोग हुआ है। अमीर खुसरो ने उसको 'हिंदी', 'हिंदवी' अथवा 'जबाने देहलवी' कहा थाय दक्षिण में पहुँची तो 'दकिनी' या 'दक्खिनी' कहलाई, गुजरात में 'गुजरी' (गुजराती उर्दू) कही गई, दक्षिण के कुछ लेखकों ने उसे 'जबाने-अहले-हिंदुस्तान' (उत्तरी भारत के लोगों की भाषा) भी कहा। जब कविता और विशेषतया गजल के लिए इस भाषा का प्रयोग होने लगा तो इसे 'रेख्ता' (मिली-जुली बोली) कहा गया। बाद में इसी को 'जबाने उर्दू', 'उर्दू-ए-मुअल्ला' या केवल 'उर्दू' कहा जाने लगा। यूरोपीय लेखकों ने इसे साधारणत: 'हिंदुस्तानी' कहा है और कुछ अंग्रेज लेखकों ने इसको 'मूस' के नाम से भी संबोधित किया है। इन कई नामों से इस भाषा के ऐतिहासिक विकास पर भी प्रकार पड़ता है।

उद्‌गम

उद्‌गम की दृष्टि से उर्दू वही है, जो हिन्दीय देखने में केवल इतना ही अंतर मालूम देता है कि उर्दू में अरबी-फारसी शब्दों का प्रयोग कुछ अधिक होता है और हिंदी में संस्कृत शब्द अधिक प्रयोग होते हैं। इसकी लिपि देवनागरी से भिन्न है और कुछ मुहावरों के प्रयोग ने इसकी शैली और ढाँचे को बदल दिया है। परंतु साहित्यिक परंपराएँ और रूप सब एक अन्य साँचे में ढले हुए हैं। यह सब कुछ ऐतिहासिक कारणों से हुआ है, जिसका ठीक-ठीक अनुमान उसके साहित्य के अध्ययन से किया जा सकता है। परंतु इससे पहले एक बात की ओर और ध्यान देना चाहिए। 'उर्दू' तुर्की भाषा का शब्द है, जिसका अर्थ है 'वह बाजार जो शाही सेना के साथ-साथ एक स्थान से दूसरे स्थान पर चलता रहता थाश। वहाँ जो मिली-जुली भाषा बोली जाती थी उसको उर्दूवालों की भाषा कहते थे, क्रमश: वही भाषा स्वयं उर्दू कही जाने लगी। इस अर्थ में इस शब्द का प्रयोग 17वीं शताब्दी के अंत से मिलता है।

उर्दू की प्रारंभिक रूप या तो सूफी फकीरों की बानी में मिलता है या जनता की बोलचाल में। भाषा की दृष्टि से उर्दू के विकास में पंजाबी का प्रभाव सबसे पहले दिखाई पड़ता है, क्योंकि जब 15वीं और 16वीं सदी में इसका प्रयोग दक्षिण के कवि और लेखक साहित्यिक रचनाओं के लिए करने लगे तो उसमें पंजाबीपन पर्याप्त मात्र में पाया जाता था। 17वीं और 18वीं शताब्दी में ब्रजभाषा का गहरा प्रभाव उर्दू पर पड़ा और बड़े-बड़े विद्वान् कविता में 'ग्वालियरी भाषा' को अधिक शुद्ध मानने लगे, किंतु उसी युग में कुछ विद्वानों

और कवियों ने उर्दू को एक नया रूप देने के लिए ब्रज के शब्दों का बहिष्कार किया और फारसी-अरबी के शब्द बढ़ाने लगे। दक्षिण में उर्दू का प्रयोग किया जाता था। उत्तरी भारत में उसे नीची श्रेणी की भाषा समझा गया क्योंकि वह दिल्ली की बोलचाल की उस भाषा से भिन्न थी जिसमें फारसी साहित्य और संस्कृति की झलक थी। बोलचाल बोलचाल में यह भेदभाव चाहे कुछ अधिक दिखाई न दे किंतु साहित्य में शैली और शब्दों के विशेष प्रयोग से यह विभिन्नता बहुत व्यापक हो जाती है और बढ़ते-बढ़ते अनेक साहित्यिक स्कूलों का रूप धारण कर लेती है, जैसे 'दकन स्कूल', 'दिल्ली स्कूल', 'लखनऊ स्कूल', 'बिहार स्कूल' इत्यादि। सच तो यह है कि उर्दू भाषा के बनने में जो संघर्ष जारी रहा उसमें ईरानी और हिंदुस्तानी तत्त्व एक दूसरे से टकराते रहे और धीरे-धीरे हिंदुस्तानी तत्त्व ईरानी तत्त्व पर विजय पाता गया। अनुमान लगाया गया है कि जिस भाषा को उर्दू कहा जाता है उसमें 85 प्रतिशत शब्द वे ही हैं, जिनका आधार हिंदी का कोई न कोई रूप है। शेष 15 प्रतिशत में फारसी, अरबी, तुर्की और अन्य भाषाओं के शब्द सम्मिलित हैं, जो सांस्कृतिक कारणों से मुसलमान शासकों के जमाने में स्वाभाविक रूप से उर्दू में घुल-मिल गए थे। इस समय उर्दू पाकिस्तान के अनेक क्षेत्रों में, उत्तरी भारतवर्ष के कई भागों में, कश्मीर और आंध्र प्रदेश में बहुत से लोगों की मातृभाषा है।

शुरुआती रचनाकार

इस बात की ओर संकेत किया जा चुका है कि मुसलमान भारतवर्ष में आए तो यहाँ के जीवन पर उनका प्रभाव पड़ा और वे स्वयं यहाँ की स्थिति से प्रभावित हुए। उन्होंने यहाँ की भाषाएँ सीखीं और उनमें अपने विचार प्रकट किए। सबसे पहले लाहौर के ख्वाजा मसऊद साद सलमान (1166 ई.) का नाम मिलता है, जिन्होंने हिंदी में अपना काव्य संग्रह एकत्र किया, जो दुर्भाग्य से आज प्राप्त नहीं होता। उसी समय में कई सूफी फकीरों के नाम मिलते हैं, जो देश के कोने-कोने में घूम फिरकर जनता में अपने विचारों का प्रचार कर रहे थे। इस बात का अनुमान करना कठिन नहीं है कि उस समय कोई बनी बनाई भाषा प्रचलित नहीं रही होगी इसलिए वे बोलचाल की भाषा में फारसी अरबी के शब्द मिलाकर काम चलाते होंगे। इसके बहुत से उदाहरण सूफियों के संबंध में लिखी हुई पुस्तकों में मिल जाते हैं। जिन लोगों को कविताएँ अथवा वाक्य मिले हैं उनमें से कुछ के नाम ये हैं—बाबा फरीद शकरगंज (मृ. 1262 ई.), शेख, हमीदउद्दीन

नागौरी (मृ. 1274 ई.), शेखघ शरफुद्दीन अबू अली कलंदर (मृ. 1323 ई.), अमीर खुसरो (मू. 1370 ई.), मखघ्दूम अशरफ जहाँगीर (मृ. 1355 ई.), शेखघ अब्दुलहकघ (मृ. 1433 ई.), सैयद गेसू दरज (मृ. 1421 ई.), सैयद मुहम्मद जौनपुरी (मृ. 1504 ई.), शेखघ बहाउद्दीन बाजन (मृ. 1506 ई.) इत्यादि। इनमे बचन और दोहरे इस बात का पता देते हैं कि एक ऐसी भाषा बन रही थी जो जनसाधरण समझ सकता था और जिसका रूप दूसरी बोलियों से भिन्न था।

ऊपर के कवियों में अमरी खुसरो और गेसू दराज उर्दू साहित्य के प्रारंभिक इतिहास में बहुत महत्त्व रखते हैं। खुसरो की हिंदी रचनाएँ, जिनका कुछ अंश दिल्ली की खड़ीबोली में होने के कारण उर्दू कहा जाता है, देवनागरी में भी प्रकाशित हो चुकी हैं, परंतु गेसू दराज के लेखों और कविताओं की खोज अभी जारी है। इस समय तक 'चक्कीनाम', 'तिलावतुल वजूद', 'मेराजनामा' प्राप्त हो चुकी हैं, इन सब में सूफी विचार प्रकट किए गए हैं। गेसू दराज दिल्ली निवासी थे परंतु उनका ज्यादा समय दक्षिण में बीता, वहीं उनकी मृत्यु हुई और इसी कारण उनकी भाषा को दक्किनी उर्दू कहा जाता है। सच यह है कि उर्दू, जिसने दिल्ली के आसपास एक भाषा का रूप ग्रहण किया था, सेनाओं, सूफी फकीरों, सरकारी कर्मचारियों और व्यापारियों के साथ देश के अन्य भागों में पहुँची और उचित वातावरण पाकर बढ़ी और फैली।

दक्कनी उर्दू

उर्दू के साहित्यिक रूप के प्रारंभिक विकास के चिह्न सबसे पहले दक्षिण और गुजरात में दिखाई पड़ते हैं। गेसू दराज के अतिरिक्त मीरानजी शमसुल उश्शाक, बुरहानुद्दीन जानम, निजामी, फिरोज, महमूद, अमीनुद्दीन आला ने ऐसी रचनाएँ छोड़ी हैं, जो प्रत्येक उर्दू साहित्य के इतिहास में स्थान प्राप्त कर सकती हैं। बहमनी राज्य के पतन के पश्चात् जब दक्षिण में पाँच राज्य बने तो उर्दू को उन्नति करने का और अवसर मिला। जनता से संपर्क रखने के लिए बादशाहों ने भी उर्दू को ही मुख्य स्थान दिया। गोलकुंडा और बीजापुर में साहित्य और कला कौशल की उन्नति हुई। दिल्ली से नाता तोड़ने और अपनी स्वाधीनता प्रकट करने के लिए उन्होंने फारसी के विरुद्ध इस देशी भाषा को अपनाया और साहित्यकारों का साहस बढ़ाया। बीजापुर के इब्राहीम आदिलशाह ने अपनी सुविख्यात रचना 'नौरस' 16वीं शताब्दी के अंत में प्रस्तुत की। इसमें ब्रज और खड़ीबोली का मेल है, फारसी अरबी के शब्द भी बीच-बीच में आ जाते हैं।

परंतु इसका पूरा ढाँचा एकमात्र हिंदुस्तानी है। इसके समस्त गीत भारतीय संगीत के आधार पर लिखे गए हैं। इसकी भूमिका फारसी के सुप्रसिद्ध विद्वान, 'जहूरी' ने फारसी में लिखी जो 'सेहनस्र' (तीन गद्य) के नाम से आज भी महत्त्व रखती है। बीजापुर के अन्य दूसरे बादशाह भी स्वयं कवि और कवियों के संरक्षक थे। इनमें 'आतशी', 'मुकीमी', 'अमीन', 'रुसतमी', 'खुशनूद', 'दौलतशाह' के नाम स्मरणीय हैं। बीजापुर के अंतिम दिनों में उर्दू का कहान् कवि 'नुसरती' पैदा हुआ जिसने श्रृंगार और वीररस में श्रेष्ठ कविताएँ लिखीं।

बीजापुर की ही भाँति गोलकुंडा में भी बादशाह और जनता सब अधिकतर उर्दू ही में लिख रहे थे। मुहम्मद कुली कुतुबशाह (मृ. 1611 ई.) स्वयं उर्दू, फारसी और तेलुगु में कविताएँ लिखता और कवियों को प्रोत्साहन देता था। उसके काव्यसंग्रह में भारत के मौसमों, फलों, फूलों, चिड़ियों और त्यौहारों का विचित्र वर्णन मिलता है। उसके बाद जो और बादशाह हुए वे भी अच्छे कवि हुए और उनके संग्रह भी विद्यमान हैं। प्रसिद्ध कवियों और लेखकों में 'वजही', 'गौव्वासी', 'इब्ने निशाती', 'गुलामअली' इत्यादि महत्त्व रखते हैं। इस प्रकार दक्षिण में उर्दू के इस पहले साहित्यिक रूप ने कुछ ऐसी रचनाओं को जन्म दिया जो साहित्य और चिंतन दोनों की दृष्टि से सराहनीय हैं। इन रचनाओं में कुलियाते कलीकुतबशाह, कुतुब मुशतरी (वजही), फलबन (इब्नेनिशाती), सैफुल-मुलूक व बदीउल जमाल (गौव्वासी), मनोहर मधुमालती (नुसरती), चंद्रबदन व महयार (मुकीमी) इत्यादि उर्दू की श्रेष्ठ रचनाओं में गिनी जाती हैं।

17वीं शताब्दी की समाप्ति के पूर्व गुजरात, अरकाट, मैसूर और मद्रास तक पहुँच चुकी थी। गुजरात में इसकी उन्नति अधिकतर सूफी कवियों के हाथों हुई जिनमें शेख बाजन, शाहअलोज्यु और खूब मुहम्मद चिश्ती की रचनाएँ बहुत महत्त्व रखती हैं।

क्योंकि उर्दू की परंपराएँ बन चुकी थीं और लगभग 300 वर्षों में उनका संगठन भी हो चुका था इसलिए जब सन् 1687 ई. में मुगलों ने दक्षिण को अपने राज्य में मिला लिया तब भी उर्दू साहित्य के सोते नहीं सूखे, बल्कि काव्य रचना ने और तीव्र गति से उन्नति की। 17वीं शताब्दी के अंत और 18वीं शताब्दी के आरंभ में 'वली' दक्किनी (1707 ई.), 'बहरी', 'वजही', 'वली', 'वेलोरी, 'सेराज' (1763 ई.), 'दाऊद' और 'उजलत' जैसे कवियों ने जन्म लिया। इनमें भी 'वली', 'दक्किनी', 'बहरी', 'सेराज' की गणना उर्दू के बहुत बड़े कवियों में होती है। 'वली' को तो उत्तरी और दक्षिणी भारत के बीच की कड़ी कहा

जा सकता है। यह स्पष्ट है कि दिल्ली की बोलचाल की भाषा उर्दू थी परंतु फारसी के प्रभाव से वहाँ के पढ़े-लिखे लोग अपनी सांस्कृतिक आवश्यकताएँ फारसी से ही पूरी करते थे। वे समझते थे कि उर्दू से इनकी पूर्ति नहीं हो सकती। 'वली' और उनकी कविता के उत्तरी भारत में पहुँचने से यह भ्रम दूर हो गया और सहसा उत्तरी भारत की साहित्यिक स्थिति में एक क्रांतिकारी परिवर्तन हो गया। थोड़े ही समय में दिल्ली सैंकड़ों उर्दू कवियों की वाणी से गूँज उठी।

दिल्ली - लखनऊ - अकबराबाद (आगरा)

अब उर्दू के दिल्ली स्कूल का आरंभ होता है। यह बात स्मरणीय है कि यह सामंत काल के पतन का युग था। मुगल राज केवल अंदर से ही दुर्बल नहीं था वरन् बाहर से भी उसपर आक्रमण होते रहते थे। इस स्थिति से जनता की बोलचाल की भाषा ने लाभ उठाया। अगर राज्य प्रबल होता तो न नादिर शाह दिल्ली को लूटता और न फारसी की जगह जनता की भाषा मुख्य भाषा का स्वरूप धारण करती। इस समय के कवियों में खघने आरजू, आबरू, हातिम (1783 ई.), यकरंग, नाजी,मजमून, ताबाँ, (1748 ई.), फुगाँ (1772 ई.), 'मजहर जानेजानाँ', 'फायेज' इत्यादि उर्दू साहित्य में बहुत ऊँचा स्थान रखते हैं। दक्षिण में प्रबंध काव्यों और मरसियों (शोक कविताओं) की उन्नति हुई थी, दिल्ली में गजल का बोलबाला हुआ। यहाँ की प्रगतिशील भाषा हृदय के सूक्ष्म भावों को प्रकट करने के लिए दक्षिणी भाषा की अपेक्षा अधिक समर्थ थी इसलिए गजल की उन्नति स्वाभाविक जान पड़ती है। यह बात भी याद रखने योग्य है कि इस समय की कविताओं में शृंगार रस और भक्ति के विचारों को प्रमुख स्थान मिला है। सैंकड़ों वर्ष के पुराने समाज की बाढ़ रुक गई थी और जीवन के सामने कोई नया लक्ष्य नहीं था इसलिए इस समय की कविता में कोई शक्ति और उदारता नहीं दिखलाई पड़ती। 18वीं शताब्दी के समाप्त होने से पहले एक ओर नई-नई राजनीतिक शक्तियाँ सिर उठा रहीं थी जिससे मुगल राज्य निर्बल होता जा रहा था, दूसरी ओर वह सभ्यता अपनी परंपराओं की रोगी सुंदरता की अंतिम बहार दिखा रही थी। दिल्ली में उर्दू कविता और साहित्य के लिए ऐसी स्थिति पैदा हो रही थी कि उसकी पहुँच राजदरबार तक हो गई। मुगल बादशाह शाहआलम (1759-1806 ई.) स्वयं कविता लिखते थे और कवियों को आश्रय देते थे। इस युग में जिन कवियों ने उर्दू साहित्य का सिर ऊँचा किया, वे हैं मीर दर्द (1784 ई.), मिर्जा मोहम्मद रफी सौदा (1785 ई.), मीर तकघी

'मीर' (1810 ई.) और 'मीर सोजष इनके विचारों की गहराई और ऊँचाई, भाषा की सुंदरता तथा कलात्मक निपुणता प्रत्येक दृष्टि से सराहनी है। 'दर्द' ने सूफी विचार के काव्य में, 'मीर' ने गजल में और 'सौदाष्दूसरी विधाओं के साथ कघ्सीदे के क्षेत्रों में उर्दू कविता की सीमाएँ विस्तृत कर दी।

परंतु दिन बहुत बुरे आ गए थे। ईस्ट इंडिया कंपनी का दबाव बढ़ता जा रहा था और दिल्ली का राजसिंहासन डावाँडोल था। विवश होकर शाह आलम ने अपने को कंपनी की रक्षा में दे दिया और पेंशन लेकर दिल्ली छोड़ प्रयाग में बंदियों की भाँति जीवन बिताने लगे। इसका फल यह हुआ कि बहुत से कवि और कलाकार अन्य स्थानों को चले गए। इस समय कुछ नए नए राजदरबार स्थापित हो गए थे, जैसे हैदराबाद, अवध, अजीमाबाद (पटना), फर्रुखाबाद इत्यादि। इनकी नई ज्योति और जगमगाहट ने बहुत से कवियों को अपनी ओर खींचा। सबसे अधिक आकर्षक अवध का राजदरबार सिद्ध हुआ, जहाँ के नवाब अपने दरबार की चमक दमक मुगल दरबार की चमक-दमक से मिला देना चाहते थे। दिल्ली की स्थिति खराब होते ही 'फुगाँ', 'सौदा', 'मीर', 'हसन' (1787 ई.) और कुछ समय बाद मुसहफी (1825 ई.), इंशा (1817 ई.), जुरअत और अन्य कवि अवध पहुँच गए और वहाँ काव्यरचना का एक नया केंद्र बन गया जिसको 'लखनऊ स्कूल' कहा जाता है।

सन् 1775 ई. में लखनऊ अवध की राजधानी बना। उसी समय से यहाँ फारसी-अरबी की शिक्षा बड़े पैमाने पर आंरभ हुई और अवधी के प्रभाव से उर्दू में नई मिठास उत्पन्न हुई। क्योंकि यहाँ के नवाब शिया मुसलमान थे और वह शिया धर्म की उन्नति और शोभा चाहते थे, इसलिए यहाँ को काव्यरचना में कुछ नई प्रवृत्तियाँ पैदा हो गई जो लखनऊ की कविता को दिल्ली की कविता से अलग करती हैं। उर्दू साहित्य के इतिहास में दिल्ली और लखनऊ स्कूल की तुलना बड़ा रोचक विषय बनी रही है, परंतु सच यह है कि सांमती युग की पतनशील सीमाओं के अंदर दिल्ली और लखनऊ में कुछ बहुत अंतर नहीं था। यह अवश्य है कि लखनऊ में भाषा और जीवन के बाह्य रूप पर अधिक जोर दिया जाता था और दिल्ली में भावों पर। परंतु वस्तुतः दिल्ली की ही साहित्यिक परंपराएँ थीं जिन्होंने लखनऊ की बदली हुई स्थिति में यह रूप धारण किया। यहाँ के कवियों में 'मीर', 'मीर हसन', 'सौदा', 'इंशा', 'मुसहफी', 'जुरअत', के पश्चात आतिश (1847 ई.), नासिख (1838 ई.), 'अनोस' (1874 ई.), 'दबीर' (1875 ई.), 'वजीर', 'नसीम', 'रश्क', 'रिंद ओर 'सबा' ऊँचा स्थान

रखते हैं। लखनऊ में मरसिया और मसनवी की विशेष रूप से उन्नति करने का अवसर मिला।

लखनऊ और दिल्ली स्कूलों के बाहर भी साहित्य रचना हो रही थी और ये रचनाएँ राजदरबारों के प्रभाव के दूर होने के कारण जनसाधारण के भावों के निकट थीं। इस संबंध में सबसे महत्त्वपूर्ण नाम नजीर अकबराबादी का है। उन्होंने रूढ़िवादी विचारों से नाता तोड़कर हिंदुस्तानी जनता के दिलों की धड़कनें अपनी कविताओं में बंद कीं। उनकी शैली और विचारधारा दोनों में भारतीय जीवन की सरलता और उदारता मिलती है।

पश्चिमी संपर्क के फलस्वरूप 19वीं शताब्दी के मध्य में भारतवर्ष की दूसरी भाषाओं की तरह उर्दू में भी नई चेतना का आंरभ हो गया और आर्थिक, सामाजिक, तथा राजनीतिक परिवर्तनों के कारण नई विचारधारा का उद्‌भव हुआ। किंतु इससे पहले दिल्ली की मिटती हुई सामंती सभ्यता ने जौक (1852 ई.), मोमिन (1855 ई.), गालिब, (1869 ई.), 'शेफता' (1869) और 'जफर' जैसे कवियों को जन्म दिया। इनमें विशेष रूप से गालिब की साहित्यिक रचनाएँ उस जीवन की शक्तियों और त्रुटियों दोनों की प्रतीक हैं। उनकी महत्ता इसमें हैं कि उन्होंने अपनी कविताओं में हार्दिक भावों और मानसिक स्थितियों, दोनों का समन्वय एक विचित्र शैली में किया है।

उर्दू गद्य

उर्दू गद्य का विकास नए युग से पहले ही हो चुका था परंतु उसकी उन्नति 19वीं शताब्दी में हुई। दक्षिण में 'मेराजुअल आशिकीन' और 'सबरस' (1634 ई.) के अतिरिक्त कुछ धार्मिक रचनाएँ मिलती हैं। उत्तरी भारत में 'तहसीन' की 'नौ तरजे मुरस्सा' (1775 ई.) का नाम लिया जा सकता है। अंग्रेजों ने अपनी सुविधा के लिए फोर्ट विलियम कालेज (1800 ई.) स्थापित किया और गद्य में कुछ पुस्तकें लिखवाई जिसके फलस्वरूप उर्दू गद्य की उस नई शैली क विकास हुआ जो 50 वर्ष बाद पूर्णतया प्रचलित हुई। यहाँ की रचनाओं में मीर अम्मन की 'बागोबहार' हैदरी की 'आराइशे महफिल', अफसोस की 'बागे उर्दू' विला को 'बेताल पचीसी', जवान की 'सिंहासन बत्तीसी', निहालचंद की 'मजहबे इश्क', उच्च कोटि की रचनाएँ हैं। 19वीं सदी के आरंभ में ही 'इंशा' ने 'रानी केतकी की कहानी' ओर 'दरियाए लताफत' लिखी थीं। लखनऊ में सबसे महत्त्वपूर्ण और कथासाहित्य में सुविख्यात पुस्तक 'फिसानए अजायब'

1824 ई. में लिखी गईय इसके लेखक रजब अली बेग 'सुरूर' हैं। अंग्रेजी शिक्षा के विस्तार के कारण नए पाठयक्रम बन रहे थे। इसके लिए 1842 ई. में देहली कालेज में 'वर्नाक्युलर' ट्रांसलेशन सोसाइटी' की स्थापना हुई जहाँ रामायण, महाभारत, लीलावती, धर्मशास्त्र इत्यादि के अतिरिक्त विभिन्न विषयों की लगभग 150 पुस्तकों के उर्दू अनुवाद हुए। इस प्रकार उर्दू गद्य भी उन्नति करता रहा और इस योग्य हुआ कि नई चेतना का साथ दे सके।

नया दौर

उर्दू साहित्य में नवजागृति के वास्तविक चिह्न 1857 के विद्रोह के बाद ही से मिलते हैं। इसके ऐतिहासिक, राजनीतिक और सामाजिक कारण स्पष्ट हैं। इन कारणों से जो नई चेतना उत्पन्न हुई उसी ने नए कवियों और साहित्यकारों को नई स्थिति के अनुकूल लिखने का अवसर दिया। इसमें सबसे पहला नाम सर सैयद (1817-1897 ई.) का लिया जा सकता है। उन्हीं के नेतृत्व में हाली, (1887-1914 ई.) आजाद (1833-1910 ई.) नजीर अहमद (1834-1912 ई.) और शिबली (1857-1914 ई.) ने उर्दू गद्य और पद्य में महान रचनाएँ कीं और अंग्रेज साहित्य से प्रेरणा लेकर अपने साहित्य को समय के अनुकूल बनाया। मौलाना मुहम्मद हुसैन आजाद नई उर्दू कविता के निर्माता थे। वे दिल्ली कालेज में अपने विद्यार्थी जीवन में यूरोपीय विद्वानों और साहित्य से प्रभावित हो चुके थे। लाहौर में उन्होंने शिक्षा विभाग के अधिकारियों के सहयोग से 'अंजुमने पंजाब' की स्थापना की और 1867 ई. में उसकी एक सभा में व्याख्यान देते हुए उन्होंने उर्दू कविता की त्रुटियों की ओर ध्यान दिलाते हुए कहा कि कविता को मानव जीवन और प्रकृति के सभी अंगों पर प्रकाश डालना चाहिए जो दुर्भाग्यवश अभी तक उर्दू कविता में नहीं हो सका। हमें अब पुरानी लकीर पीटने के बजाए नए वातावरण की समस्याओं को चिंतन और काव्य का विषय बनाना चाहिए। इन्हीं विचारों के फलस्वरूप उर्दू कविता में नई शायरी का निर्माण हुआ और बाद के अधिकतर महान कवि इसी से प्रभावित हुए। बहुत से छापेखाने खुल गए थे, पत्र-पत्रिकाएँ निकल रही थी, नए पुराने का संघर्ष चल रहा था, इसलिए इन लोगों को अपने नए विचार प्रकट करने और उन्हें फैलाने में बड़ी सुविधा हुई। इसी युग में 'सरशार', 'शरर' और मिर्जा रुसवा का नाम भी लिया जा सकता है, जिन्होंने उपन्यास साहित्य में बहूमूल्य वृद्धि की। इस युग को हर प्रकार से आलोचना का युग कहा जा सकता है, जो कुछ लिखा जा रहा था उसको इतिहास

अपनी कसौटी पर परख रहा था। इन महान लेखकों ने आलोचना, निबंध, उपन्यास, जीवनी, कविता के रूप में जो कुछ लिखा है वही आज के नए साहित्य का आधार है। इस युग की महानता यह है कि साहित्यकार ही नवचेतना के अग्रदूत और नेता बन गए थे। राजनीतिक दृष्टि से ये लोग क्रांतिकारी नहीं थे, किंतु इन्हीं की विचारधारा के बाद के लेखकों को प्रेरणा दी।

20वीं सदी का आरंभ होने से बहुत पहले राष्ट्रीयता की भावना पैदा हो चुकी थी और उसकी झलक इन साहित्यकारों की कृतियों में भी मिल जाती है, परंतु इसका पूरा विकास 'इकघ्बाल' (1873-1938 ई.), 'चकबस्त' (1882-1926), 'प्रेमचंद' (1880-1936 ई.), इत्यादि की कविताओं और लेखों में हुआ। यह भी याद रखना चाहिए कि इसी के साथ साहित्य की पुरानी परंपराएँ भी चल रही थीं और 'अमीर' (1899), 'दाग' (1905), 'जलाल' (1910) और दूसरे कवि भी अपनी गजलों से पढ़नेवालों को मोहित कर रहे थे। किसी न किसी रूप में यह धारा अब तक चली जा रही है। इस शताब्दी के उल्लेखनीय कवियों में 'सफी', दुर्गा सहाय 'सुरूर', 'साकिब', 'महशर', 'अजीज', 'रवाँ, 'हसरत', 'फानी', 'जिगर', 'असर' और लेखकों में हसन निजामी, राशिदुल खैरी, सुलैमान नदवी, अब्दुलहक, रशीद अहमद, मसूद हसन, मौलाना आजाद और आबिदहुसेन हैं।

वर्तमान

वर्ममान काल में साहित्य की सीमाएँ और विस्तृत हुई हैं और हर विचार के लेखक अपने-अपने ढंग से उर्दू साहित्य को दूसरे साहित्यों के बराबर लाने में लगे हुए हैं। कवियों में 'जोश', 'फिराक', 'फैज', 'मजाज', 'हफीज', 'सागर', 'मुल्ला', 'रविश', 'सरदार', 'जमील' और 'आजाद' के नाम उल्लेखनीय हैं, तो गद्य में कृष्णचंद्र 'अश्क', हुसेनी, 'मिंटो', हायतुल्लाह, इसमत, अहमद नदीम, ख्वाजा अहमद अब्बास अपना महत्त्व रखते हैं। 20वीं शताब्दी में आलोचना साहित्य की बड़ी उन्नति हुई। इसमें नियाज, फिराक, जोर, कलीम, मजनूँ, सुरूर, एहतेशाम हुसैन, एजाज हुसैन, मुमताज हुसैन, इबादत इत्यादि ने बहुत सी बहुमूल्य पुस्तकें लिखीं।

20वीं शताब्दी में साहित्यिक स्कूलों के झगड़े समाप्त होकर विचारधाराओं के आधार पर साहित्यरचना होने लगी थी। अंग्रेजी साहित्य और शिक्षा के प्रभाव से छायावादी कविता को बढ़ावा मिला। फिर प्रजातंत्र और राष्ट्रीयता की भावना

ने प्रगतिशील आंदोलन को जन्म दिया जो 1936 ई. से आरंभ होकर किसी न किसी रूप में अब तक चल रहा है। इस बीच में 'मार्क्स' और 'फ्रायड' ने भी लेखकों को भिन्न-भिन्न समूहों में बाँटा। कुछ लेखक मुक्त छंद में भी कविताएँ लिखने लगे, किंतु इस प्रकार के समस्त प्रयोग अभी तक अपनी जड़ें बहुत गहरी नहीं कर सके हैं।

समकालीन उर्दू साहित्य में नई काव्यरचना प्रयोगवाद, स्पष्टवाद, प्रतीकवाद और निरुद्देश्यवाद से बहुत प्रभावित हो रही है। नई कविता जीवन के सभी मूल्यों का बहिष्कार करती है क्योंकि नए कवि सामाजिक चेतना को काव्यरचना में बाधक मानते हैं। इसके अतिरिक्त नए कवि अपने व्यक्तित्त्व अपने व्यक्तित्त्व को सिद्ध करने के लिए भाषा, विचार, कला और साहित्य के सभी नियमों को तोड़ना आवश्यक समझते हैं। कुछ लोग इसी को विचार स्वतंत्रता का नाम भी देते हैं, किंतु यह बात अभी तक स्पष्ट नहीं हो सकी कि नई कविता लिखने वाले एक ओर तो साहित्य और कला की सभी परंपराओं से अपना नाता तोड़ रहे हैं और दूसरी ओर वे अपनी विचारधारा को यूरोप और अमेरिका के कुछ दार्शनिकों, लेखकों और कवियों की विचारधारा से मिलाने की अनथक चेष्टा कर रहे हैं। यह आधुनिकता उर्दू कहानी और उपन्यास को भी प्रभावित कर रही है। नई कविता, कहानी और उपन्यास को साहित्य के इतिहास में क्या स्थान मिलेगा, इस समय इस संबंध में कुछ नहीं कहा जा सकता।

7

मगही साहित्य

मगही साहित्य से तात्पर्य उस लिखित साहित्य से है, जो पाली मागधी, प्राकृत मागधी, अपभ्रंश मागधी अथवा आधुनिक मगही भाषा में लिखी गयी है। 'सा मागधी मूलभाषा' से यह बोध होता है कि आजीवक तीर्थंकर मक्खलि गोसाल, जिन महावीर और गौतम बुद्ध के समय मागधी ही मूल भाषा थी जिसका प्रचलन जन सामान्य अपने दैनंदिन जीवन में करते थे। मौर्यकाल में यह राज-काज की भाषा बनी, क्योंकि अशोक के शिलालेखों पर उत्कीर्ण भाषा यही है। जैन, बौद्ध और सिद्धों के समस्त प्राचीन ग्रंथ, साहित्य एवं उपदेश मगही में ही लिपिबद्ध हुए हैं। भाषाविद् मानते हैं कि मागधी (मगही) से ही सभी आर्य भाषाओं का विकास हुआ है।

मगही भाषा की प्राचीनता और क्षेत्र विस्तार

मगही शब्द की उत्पत्ति 'मागधी' से मानी गयी है -

मागधी झ मागही झ मगही

आदि व्याकरणाचार्य कच्चान ने मगही की प्राचीनता के संबंध में कहा है–

"सा मागधी मूलभाषा, नराया आदि कप्पिका।

ब्रह्मणा चस्सुतालापा सम्बुद्धा चापि भासि रे।।"

'चूलवंश' में भी मागधी को सभी भाषाओं का मूल भाषा कहा गया है–

"सब्बेसां मूल भाषाय मागधाय निरूक्तियां।"

मौद्गल्यायन, बुद्धघोष और नाट्याचार्य भरतमुनि ने भी मगही को आमजन की लोकप्रिय भाषा के रूप में स्वीकार किया है। संस्कृत नाटकों में आम आम लोगों की भाषा के रूप में मगही का ही प्रयोग हुआ है।

पश्चिमी भाषाविद् और भारतीय भाषाओं के प्रथम सर्वेक्षक जॉर्ज अब्राहम ग्रियर्सन (1851-1941) ने आधुनिक मगही के दो रुपों को स्वीकार किया है–

(क) पूर्वी मगही

(ख) शुद्ध मगही

पूर्वी मगही झारखंड राज्य के चतरा, हजारीबाग के दक्षिणपूर्व भाग, मानभूम एवं रांची के दक्षिण पूर्व भाग खरसावां तथा दक्षिण में उड़ीसा के मयुरभंज एवं बामड़ा तक बोली जाती है। पश्चिम बंगाल के मालदा जिले का पश्चिमी भाग भी पूर्वी मगही का क्षेत्र है।

शुद्ध मगही अपने क्षेत्र में बोली जाती है। यह पश्चिमी क्षेत्र में पटना, नालन्दा, गया, चतरा,हजारीबाग, मुंगेर, भागलपुर और बेगुसराय जिले में ही नहीं अपितु पूर्व क्षेत्र में रांची के दक्षिण भाग में, सिंहभूम के उत्तरी क्षेत्र में तथा सरायकेला एवं खरसावां के कुछ क्षेत्रों में मगही बोली जाती है।

भाषाविदों ने पूर्वी मगही तथा शुद्ध मगही के साथ ही मिश्रित मगही का एक रूप भी स्वीकार किया है। इसके अनुसार मिश्रित मगही का रुप वहां दिखाई पड़ता है जहां आदर्श मगही अपनी सीमा पर अन्य सहोदर भाषाओं, जैसे मैथिली और भोजपुरी से मिलकर सीमावर्ती बोलियों के रुप में व्यक्त होती है।

आधुनिक काल में मगही भाषा के अनेक रूप दिखाई पड़ते हैं। चूंकि मगही भाषा का क्षेत्र विस्तार बहुत ही व्यापक है, अतः स्थान भेद के कारण इसके रुप में भी कई भेद हो गए हैं। मगही भाषा के क्षेत्रीय भेदों का संकेत कृष्णदेव प्रसाद ने इस प्रकार से किया है -

(क) आदर्श-मगहीय

(ख) शुद्ध-मगहीय

(ग) टलहा मगहीय

(घ) सोनतरिया मगहीय

(च) जंगली मगही।

भाषाशास्त्री भोलानाथ तिवारी की मान्यता है कि मगही का परिनिष्ठित रूप पुराने गया जिले में बोला जाता है। ग्रियर्सन ने भी गया जिले की मगही को विशुद्ध मगही माना है।

ग्रियर्सन के भाषा-सर्वेक्षण के अनुसार 'मगही' भाषियों की संख्या लगभग 6,504,817 थी। लेकिन 2001 की जनगणना के अनुसार अब मगही भाषी लोगों

की संख्या लगभग 1 करोड़ 30 लाख है। इसे प्रयोग में लेने तथा शुद्ध मगही बोलने वाली आबादी मुख्य रूप से बिहार राज्य के पटना, गया, औरंगाबाद, राजगीर, नवादा, नालंदा, जहानाबाद और अरवल के इलाकों में निवास करती है।

मगही (मागधी) साहित्य का इतिहास

मगही (मागधी) साहित्य का काल विभाजन

महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने मगही भाषा के विकासात्मक इतिहास को निम्न रूप में प्रस्तुत किया है –

1. पाली –

1. अशोक के पूर्व की मागधी – ई. पू. 600 से 300 तक (अनुपलब्ध)
2. अशोक की मागधी – ई. पू. 300 से 200 तक (सुलभ)
3. अशोक के पीछे की मागधी – ई. पू. 200 से ई0 सन् 200 तक (दुर्लभ)

2. प्राकृत –

1. प्राकृत मागधी – 0 से 550 ई. तक (सुलभ)
2. अपभ्रंश –
3. अपभ्रंश मागधी – ई. सन् 550 से 1200 ई. तक (अनुपलब्ध)
4. प्राचीन मगही – ई. सन् 800 से 1200 तक (सुलभ)
5. मध्यकालीन मगही – ई. सन् 1200 से 1600 तक (अनुपलब्ध)
6. आधुनिक मगही – ई. सन् 1600 से . . . (जीवित)।

राहुल जी के अलावा भाषा–साहित्य के अन्य कई विद्वानों ने मगही का काल विभाजन किया है। कुछ साहित्येतिहासकारों ने तो पं. रामचंद्र शुक्ल के हिंदी साहित्य का काल विभाजन का अनुसरण करते हुए चारण काल, डा. श्रीकांत शास्त्री काल जैसे मगही साहित्य काल की भी परिकल्पना कर ली है। जो न केवल ब्राह्मणवादी व मनुवादी साहित्यिक संकल्पना है, बल्कि व्यक्तिगत महिमामंडन और अवैज्ञानिक भी है। फिर भी अब तक हुए विभाजनों को समेकित करते हुए मगही साहित्य के काल को निम्नांकित तौर पर विभाजित किया जा सकता है–

आदि पाली मगही (मागधी) काल

प्राकृत मगही (मागधी) काल

अपभ्रंश मगही (मागधी) काल

प्राचीन मगही (मागधी) काल
मध्यकालीन मगही (मागधी) काल
आधुनिक मगही (मागधी) काल

आदि पाली मगही (मागधी) काल में मुख्यत: अशोक के पूर्व, समकालीन और परवर्ती समय का साहित्य है। अशोक के पूर्व और परवर्ती काल का मगही साहित्य अनुपलब्ध है परंतु अशोककालीन मगही साहित्य हमें शिलालेखों, गुहालेखों और मौर्यकालीन ग्रंथों में मिलता है।

प्राकृत मगही (मागधी) काल का साहित्य जैन और बौद्ध साहित्य है। सभी जैन आगम और बुद्ध वचन प्राकृत मगही भाषा में ही संग्रहित हुए हैं।

अपभ्रंश मगही (मागधी) काल का समय राहुल सांकृत्यायन के अनुसार ई. सन् 550 से 1200 ई. तक का है। दुर्भाग्य से इस काल का मगही साहित्य अनुपलब्ध है। प्राचीन मगही (मागधी) काल का साहित्य अत्यंत समृद्ध है, जिसका आरंभ आठवीं शताब्दी के सिद्ध कवियों की रचनाओं से होता है। इनमें सिद्ध कवि सरहपा सर्वप्रथम हैं, जिनकी रचनाएँ 'दोहाकोष' में संकलित और प्रकाशित हैं। इसका सम्पादन राहुल सांकृत्यायन ने किया है।

मध्यकालीन मगही (मागधी) काल में सिद्ध साहित्य की परम्परा को मध्यकाल के अनेक संत कवियों ने बरकरार रखा और मगही भाषा में उत्कृष्ट रचनाएँ की। बाबा करमदास, बाबा सोहंगदास, बाबा हेमनाथ दास आदि इनमें सर्वाधिक उल्लेखनीय संत कवि हैं, जिनकी रचनाएँ हमें मगही में प्राप्त होती है।

आधुनिक मगही (मागधी) काल औपनिवेशिक समय में आरंभ होता है। इस काल में लोकभाषा और लोकसाहित्य सम्बन्धी अध्ययन के परिणामस्वरुप मगही के प्राचीन परम्परागत लोकगीतों, लोककथाओं, लोकनाट्यों, मुहावरों, कहावतों तथा पहेलियों का संग्रह कार्य हुआ। साथ ही मगही भाषा में आधुनिक और समकालीन समाज-परिवेश और जीवन संबंधी साहित्य, अर्थात् कविता, कहानी, नाटक, उपन्यास, एकांकी, ललित निबन्ध आदि की रचनाएँ, पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन एवं भाषा और साहित्य पर नवीन दृष्टि से अनुसंधान हुए तथा हो रहे हैं।

मगही भाषा-साहित्य

'ए हैंडबुक ऑफ द कैथी कैरेक्टर' (1881), 'लैंग्वेज ऑफ मग्गहिया डोम्स' (1887), अनंत प्रसाद बनर्जी-शास्त्री कृत 'इवोल्यूशन ऑफ मगही'

(1922), हरप्रसाद शास्त्री कृत 'मगधन लिटरेचर' (1923), 'द बर्थ ऑफ लोरिक' (मगही) टेक्सट् (1929), प्रो. रामशंकर कृत 'मगही' (1958), प्रो. कपिलदेव सिंह कृत 'मगही का आधुनिक साहित्य' (1969), डा. युगेश्वर पांडेय कृत 'मगही भाषा' (1969), डा. श्रीकांत शास्त्री कृत 'मगही शोध' (1969), सम्पत्ति अर्याणी कृत 'मगही भाषा और साहित्य' (1976),रास बिहारी पांडेय कृत 'मगही साहित्य व साहित्यकार' (1976), रास बिहारी पांडेय कृत 'मगही भाषा का इतिहास' (1980), असीम मैत्र कृत 'मगही कल्चर: ए मोनोग्राफिक स्टडी' (1983), डा. ब्रजमोहन पांडेय 'नलिन' कृत 'मगही अर्थ विज्ञान: विश्लेषणात्मक निर्वचन' (1982), 'मगही भाषा निबंधावली (1984), राहुल सांकृत्यायन कृत 'पाली साहित्य का इतिहास' (1993), डा. राम प्रसाद सिंह कृत 'मगही साहित्य का इतिहास' (1998), डा. सत्येंद्र कुमार सिंह कृत 'मगही साहित्य का इतिहास' (2002), एसईआरटी, बिहार टेक्सट् बुक कमिटि, पटना का 'मगही भासा आउ साहित्य के कथा', सरयू प्रसाद कृत 'मगही फोनोलॉजी: ए डिस्क्रीप्टिव स्टडी (2008), धनंजय श्रेत्रिय संपादित 'मगही भाषा का इतिहास एवं इसकी दिशा और दशा' (2012) और डा. लक्ष्मण प्रसाद कृत 'मगही साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' (2014)।

मगही लोक साहित्य

डा. उमशंकर भट्टाचार्य कृत 'मगही कहावत' (1919), जयनाथ पति और महावीर सिंह कृत 'मगही मुहावरा बुझौवल' (1928), डा. विश्वनाथ प्रसाद कृत 'मगही संस्कार गीत' (1962), सम्पत्ति अर्याणी कृत 'मगही लोक साहित्य' (1965), डा. राम प्रसाद सिंह कृत 'मगध की लोक कथाएं: अनुशीलन' (1996), डा. राम प्रसाद सिंह कृत 'मगही लोक गीत के संग्रह' (1998), इनामुल हक कृत 'मगही लोकगाथाओं का साहित्यिक अनुशीलन' (2006) घमंडीदास कृत मगही रामायण आदि।

मगही गीत-काव्य

प्रबन्ध काव्य एवं महाकाव्य: जनहरिनाथ (हरिनाथ मिश्र) कृत 'ललित भागवत' और 'ललित रामायण' (1893), जवाहिर लाल कृत 'मगही रामायण' , रामप्रसाद सिंह कृत 'लोहा मरद' , योगेश्वर प्रसाद सिंह 'योगेश' कृत 'गौतम' , योगेश पाठक कृत 'जरासंध' आदि।

खण्ड काव्य: मिथिलेश प्रसाद 'मिथिलेश' कृत 'रधिया' , रामप्रसाद सिंह कृत 'सरहपाद' आदि।

मुक्तक गीत एवं काव्य: जौन क्रिश्चियन कृत 'सत्य-शतक' (1861), जगन्नाथ प्रसाद 'किंकर' कृत 'मगही गीत संग्रह' (1934), मुनक्का कुँअर कृत 'मुनक्का कुँअर भजनावली' (1934), श्रीनंदन शाली कृत 'अप्पन गीत', योगेश्वर प्रसाद 'योगेश' कृत 'इँजोर' (1946), रामनरेश प्रसाद वर्मा कृत 'च्यवन' , स्वर्णकिरण कृत 'जीवक' ( ), 'सुजाता' ( ), सुरेश दूबे 'सरस' कृत 'निहोरा' , कपिलदेव त्रिवेदी 'देव' कृत 'मगही सनेस' (1965), रामविलास रजकण कृत 'वासंती' (1965), रजनीगंधा' (1968), 'दूज के चान' (1979), 'पनसोखा (1979), योगेश्वर प्रसाद 'योगेश' कृत 'लोहचुट्टी' (1966), रामसिंहासन सिंह 'विद्यार्थी' कृत 'जगरना' (1967), रामपुकार सिंह राठौर कृत 'औजन' , राम प्रसाद सिंह कृत 'परस पल्लव' (1977) डॉ राम सिंहासन सिंह कृत श्अँचरा के छाँव मेंश(2015) आदि।

मगही कथा (कहानी) साहित्य

तारकेश्वर भारती कृत 'नैना काजर', जितेन्द्र वत्स कृत 'किरिया करम', श्रीकान्त शास्त्री कृत 'मगही कहानी सेंगरन', राजेश्वर पाठक 'राजेश' कृत 'नगरबहू', लक्ष्मण प्रसाद कृत 'कथा थउद', रामनरेश प्रसाद वर्मा कृत 'सेजियादान', अभिमन्यु प्रसाद मौर्य कृत 'कथा सरोवर', अलखदेव प्रसाद अचल कृत 'कथाकली', सुरेश प्रदास निर्द्वेन्द्ध कृत 'मुरगा बोल देलक', राधाकृष्ण कृत 'ए नेउर तू गंगा जा', रामनन्दन कृत 'लुट गेलिया', ब्रजमोहन पाण्डेय 'नलिन' कृत 'एक पर एक', रामचन्द्र अदीप कृत 'गमला में गाछ' और 'बिखरइत गुलपासा', दयानंद प्रसाद 'बटोही' कृत 'कफनखोर', शिव प्रसाद लोहानी कृत 'घोटाला घर', रामविलास रजकण कृत 'कथांकुर', मिथिलेश कृत 'कनकन सोरा', मुद्रिका सिंह कृत 'जोरन' आदि।

मगही कथा (उपन्यास) साहित्य

मगही में प्रकाशित उपन्यासों की सूची इस प्रकार है - जयनाथ पति कृत 'सुनीता' (1927), 'फूल बहादुर' (1928) और गदहनीत (1937), डा. राम प्रसाद सिंह कृत 'समस्या' (1958), राजेन्द्र प्रसाद यौधेय कृत 'बिसेसरा' (1962), राम नन्दन कृत 'आदमी आ देवता' (1965), बाबूलाल मधुकर कृत

'रमरतिया' (1968), द्वारिका प्रसाद कृत 'मोनामिम्मा' (1969), चन्द्रशेखर शर्मा कृत 'हाय रे उ दिन', 'सिद्धार्थ' और 'साकल्य' , शशिभूषण उपाध्याय मधुकर कृत 'सँवली' (1977), श्रीकान्त शास्त्री कृत 'गोदना' (1978), उपमा दत्त कृत 'पियक्कड़', सत्येन्द्र जमालपुरी कृत 'चुटकी भर सेनुर' (1978), रामनरेश प्रसाद वर्मा कृत 'अछरंग' (1980), केदार 'अजेय' कृत 'बस एक्के राह' (1988), रामप्रसाद सिंह कृत 'नरक-सरग-धरती' (1992), रामविलास 'रजकण' कृत 'धूमैल धोती' (1995), डा. राम प्रसाद सिंह कृत 'बराबर के तरहटी में' , 'सरद राजकुमार' और 'मेधा' , मुनिलाल सिन्हा 'सीसम' कृत 'प्राणी महासंघ' (1995), बाबूलाल मधुकर कृत 'अलगंठवा' (2001), आचार्य सच्चिदानन्द कृत 'बबुआनी अइँठन छोड़*' (2004), परमेश्वरी सिंह 'अनपढ़' कृत 'बाबा मटोखर दास' , मुनिलाल सिन्हा 'सीसम' कृत 'गोचर के रंगे गो:-गोरखियन के संग' , रामबाबू सिह 'लमगोड़ा' कृत 'उनतीसवाँ व्यास' और 'टुन-टुनमें-टुन' , परमेश्वरी सिंह 'अनपढ़' कृत 'शालिस' (2006), रामनारायण सिंह उर्फ पासर बाबू कृत 'तारा' (2011) और अश्विनी कुमार पंकज कृत 'खाँटी किकटिया' (2018)

मगही एकांकी-नाटक

बाबूलाल मधुकर कृत 'नयका भोर', हरिनन्दन किसलय कृत 'अप्पन गाँव', सिद्धार्थ शर्मा कृत 'भगवान तोरे हाथ में', बाबूराम सिंह 'लमगोड़ा' कृत 'गन्धारी के सराप', 'बुज्झल दीया क मट्टी', 'कोसा', अलखदेव प्रसाद अचल कृत 'बदलाव', केशव प्रसाद वर्मा कृत 'सोना के सीता', दिलीप कुमार कृत 'बदलल समाज', अभिमन्यु प्रसाद मौर्य कृत 'प्रेम अइसन होव हे', 'पाँड़े जी के पतरा', सत्येन्द्र प्रसाद सिंह कृत 'अँचरवा के लाज', छोटूराम शर्मा कृत 'मगही के दू फूल', केशव प्रसाद वर्मा कृत 'कनहइया क दरद', रामनन्दन कृत 'कौमुदी महोत्सव', रामनरेश मिश्र 'हंस' कृत 'सुजाता', रघुवीर प्रसाद समदर्शी कृत 'भस्मासुर', गोपाल रावत पिपासा कृत 'आधी रात के बाद', घमंडी राम कृत 'सोहाग के भीख' आदि।

मगही पत्र-पत्रिकाएं

मगध समाचार (अखौरी शिवनंदन प्रसाद, 1880), तरुण तपस्वी (श्रीकान्त शास्त्री, 1945-46), मागधी (श्रीकान्त शास्त्री, 1950), मगही (श्रीकान्त

शास्त्रीधशिवराम योगी, 1954–58), महान मगध (गोपाल मिश्र केसरी, 1955–56), बिहान (श्रीकान्त शास्त्री डा. रामनंदन सुरेश दुबे 'सरस', 1958–78), मगही सनेस (रामलखन शर्मा, 1965), मगही हुंकार (योगेन्द्र, 1966), सरहलोक (1967), सुजाता (बाबूलाल मधुकर, 1967), भोर (आशुतोष चौधरी नंदकिशोर सिंह, 1968), सारथी (मथुरा प्रसाद नवीन मिथिलेश, 1971), मगही लोक (रामप्रसाद सिंह, 1977–79), मगही समाचार (सतीश कुमार मिश्र, 1978), भोर (योगेश्वर प्रसाद सिंह योगेश राम नगीना सिंह 'मगहिया', 1978), मगही समाज (रामप्रसाद सिंह, 1979–81), माँजर (बांके बिहारी 'वियोगी', 1980), कोंपल (जटाधारी मिश्र, 1979–80), मागधी (योगेश्वर प्रसाद सिंह योगेश, 1980), गौतम (श्यामनन्दन शास्त्री हंसराज, 1983), निरंजना (केसरी कुमार, 1983), पनसोखा (आशुतोष चौधरी, 1986), पाटलि (केशव प्रसाद वर्मा, 1989), कचनार (विश्वनाथ, 1992), मगह के हुँकार (सुशील रंजन, 1994), अलका मागधी (अभिमन्यु प्रसाद मौर्य, 1995), अँकुरी (जनार्दन मिश्र 'जलज' 1996), अखरा (ब्रजमोहन पाण्डेय 'नलिन', 1998), मगधांचल (जनवादी लेखक संघ, औरंगाबाद, 1998), मगहिया भारती (रामगोपाल पांडेय, 1998), मगधवाणी (1998), मगही पत्रिका (धनंजय श्रोत्रिय, 2001), मगही समाचार (सतीश कुमार मिश्र, 2004), सिरजन (कृष्ण मोहन प्यारे, 2009), टोला–टाटी (सुमंत), बंग मागधी (धनंजय श्रोत्रिय, 2011), मगही मनभावन (ई–पत्रिका, उदय भारती, 2011–15), मगही मंजूषा (उदय शंकर शर्मा, 2017)।

मगही के प्रमुख साहित्यकार

मगही विद्वान और साहित्यकार श्रीकान्त शास्त्री आधुनिक मगही साहित्य की चेतना का आरम्भ श्रीकृष्णदेव प्रसाद की रचनाओं से मानते हैं। आधुनिक मगही साहित्य को विविध विधाओं के जरिए कवियों, लेखकों, नाटककारों, कहानीकारों, उपन्यासकारों एवं निबन्धकारों ने समृद्ध किया है। इनमें पुरानी और नयी पीढ़ी दोनों साहित्यधर्मी समान रूप से मगही में सृजनरत है। ऐसे मगही साहित्यकारों में जयनाथ पति, श्रीकान्त शास्त्री, श्रीकृष्णदेव प्रसाद, रामनरेश, पाठक, जयराम सिंह, रामनन्दन, मृत्युंज्य मिश्र 'करुणेश', योगेश्वर सिंह 'योगेश', राम नरेश मिश्र 'हंस', बाबूलाल 'मधुकर', सतीश मिश्र, रामकृष्ण मिश्र, रामप्रसाद सिंह, रामनरेश प्रसाद वर्मा, रामपुकार सिंह राठौर, गोवर्धन प्रसाद सदय, सूर्यनारायण शर्मा, मथुरा प्रसाद 'नवीन', श्रीनन्दन शास्त्री, सुरेश दूबे 'सरस',

शेषानन्द मधुकर, रामप्रसाद पुण्डरीक, अनिक विभाकर, मिथिलेश जैतपुरिया, राजेश पाठक, सुरेश आनन्द पाठक, देवनन्दन विकल, रामसिंहासन सिंह विद्यार्थी, श्रीधर प्रसाद शर्मा, कपिलदेव प्रसाद त्रिवेदी, 'देव मगहिया', हरिश्चन्द्र प्रियदर्शी, हरिनन्दन मिश्र 'किसलय', रामगोपाल शर्मा 'रुद्र', रामसनेही सिंह 'सनेही', सिध्देश्वर पाण्डेय 'नलिन', राधाकृष्ण राय आदि के नाम प्रमुख हैं।

मागधी भाषा

मागधी या मगही भारत की एक भाषा है। मगही शब्द का विकास मागधी से हुआ है (मागधी झ मागही झमगही)। प्राचीन काल में यह मगध साम्राज्य की भाषा थी। भगवान बुद्ध अपने उपदेश इसके प्राचीन रुप मागधी प्राकृत में ही देते थे। मगही का मैथिली और भोजपुरी भाषाओं से भी गहरा संबंध है, जिन्हें सामूहिक रूप से बिहारी भाषाएँ कहा जाता है, जो इन्डो-आर्यन भाषाएँ हैं। मैथिली की पारंपरिक लिपि "कैथी" है पर अब यह सामन्यत: देवनागरी लिपि में ही लिखी जाती है। मगही बिहार के मुख्यत: पटना, गया, जहानाबाद, और औरंगाबाद जिले में बोली जाती है। इसके अलावा यह पलामू, गिरिडीह, हजारीबाग, मुंगेर, और भागलपुर, झारखंड के कुछ जिलों तथा पश्चिम बंगाल के मालदा में भी बोली जाती है।

आधुनिक काल में ही मगही के अनेक रुप दृष्टिगत होते हैं। मगही भाषा का क्षेत्र विस्तार अति व्यापक है, अत: स्थान भेद के साथ-साथ इसके रूप बदल जाते हैं। प्रत्येक बोली या भाषा कुछ दूरी पर बदल जाती है। मगही भाषा के निम्नलिखित भेदों का संकेत भाषाविद कृष्णदेव प्रसाद ने किया है रू-'सा मागधी मूलभाषा' इस वाक्य से यह बोध होता है कि भगवान गौतम बुद्ध के समय मागधी ही मूल भाषा के रुप में जन सामान्य के बीच बोली जाती थी। कहा जाता है कि भाषा समय पाकर अपना स्वरूप बदलती है और विभिन्न रुपों में विकसित होती है।

मागधी का विकास

मगही का विकास 'मागधी' शब्द से हुआ है। ध्वनि परिवर्तन के कारण मागधी झ मागही झ मगही। आद्य अक्षर में स्वर संकोच होने के कारण मा झ म के रुप में विकसित हुआ है। यहां यह प्रश्न उपस्थित होता है कि मगही भाषा का विकास मागधी (पालि) अथवा नाटकों में प्रयुक्त मागधी प्राकृत से हुआ

अथवा मगध जनपद में बोली जाने वाली किसी अन्य भाषा से। जहां तक नाटकों में प्रयुक्त होने वाली मागधी प्राकृत का सम्बन्ध है उससे मगही का विकास नहीं माना जा सकता है क्योंकि मागधी में र का ल और स का श हो जाता है। जबकि मगही में र और ल तथा स आदि ध्वनियों का स्वतन्त्र अस्तित्त्व है। मगही में श का प्रयोग ही नहीं होता है। मागधी में ज का य हो जाता है, किन्तु मगही में यह ज के रुप में ही मिलता है, यथा – जन्म झ जनम, जल झ जल। मागधी में अन्वर्वती च्छ का श्च हो जाता है जबकि मगही में छ का छ ही रहता है, यथा – गच्छ झ गाछ, पुच्छ झ पूंछ, गुच्छक झ गुच्छा। मागधी में क्ष का श्क हो जाता है जबकि मगही में क्ष का ख हो जाता है, यथा – पक्ष झ पक्ख झ पख, पंख, क्षेत्र झ खेत्त झ खेत। उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर यह कहा जा सकता है मागधी प्राकृत से मगही का विकास नहीं माना जा सकता है। पालि जिसे मागधी कहते हैं, उसमें मगही के अनेक शब्द मिलते हैं, यथा – निस्सेनी झ निसेनी, गच्छ झ गाछ, रुक्ख झ रुख, जंखणे झ जखने, तंखणे झ तखने, कंखणे झ कखने, कुहि, कहं झ कहां, जहि, जहीं झ जहां आदि।

किन्तु पालि और मगही की तुलनात्मक विवेचना से यह स्पष्ट हो जाता है कि पालि (मागधी) से भी मगही विकसित नहीं हुई है। सुनीति कुमार चटर्जी ने पश्चिमी मागधी अपभ्रंश से बिहारी बोलियों को विकसित माना है। दोहों की भाषा और मगही भाषा की तुलना से यह तथ्य सुनिश्चित होता है कि मगही सिद्धों की भाषा से विकसित हुई है। सर्वनाम में सरहपाद की भाषा में जहां को, जे का प्रयोग होता है, वही मगही के, जे का प्रयोग प्रचलित है। चार, चउदह, दस (दह) आदि संख्यावाचक शब्दों का प्रयोग मगही के समान है। सामयिक परिवर्तन के कारण प्रयोग मगही तथा सिद्धों की मगही में सामयिक परिवर्तन दृष्टिगत होता है, किन्तु दोनों की प्रवृत्ति एवं प्रकृति में एकरुपता है।

सिद्धों की शब्दावलियाँ कुछ परिवर्तन के साथ मगही में प्रयुक्त होती है। यथा – अइसन, अप्पन, कइसे, लेली-लेली, लेलकइ, आइल झ आयल, अइलइ, अन्धारि झ अंधार, फटिला झ फटिलइ, अधराति, अधरतिया, भइली, भेली भइली, आदि। सिद्ध साहित्य की पंक्तियां भी मगही के अत्यन्त निकट मालूम पड़ती है–

भाव न होइ अभाव ण जागइ।
अइस संवाहै को पतिआइ।।
आजि भूसु बंगाली भइली
णिअधरणी चण्डाली लली (चर्यापद 29)।

गठनात्मक रुप

सिद्धों की भाषाकार गठनात्मक रुप मगही से पूर्णत: एकनिष्ठ है। किसी भाषा की गठनात्मक स्वरूप का निरुपण, संज्ञा, सर्वनाम, क्रिया, विशेषण, उपसर्ग तथा प्रत्यय आदि से होता है। सिद्धों की भाषा की संज्ञा, सर्वनाम, मगही के समान ही हैं। अत: यह कहा जा सकता है कि सिद्धों की भाषा से ही मगही का भाषिक रुप विकसित है। सिद्धों की भाषा और मगही में पर्याप्त समरुपता है। उदाहरण के लिये यर्यापद की कुछ पंक्तियां देखी जा सकती है–

सरह भषइ जप उजु भइला
(सरहपा चर्यापद)
नाना तरुवर माउलिल ते गअणत लालेगि डालि।
(सरहपा चर्यापद)
आइल गराहक अपने बहिआ।
(बिरुआ, चर्यापद)

उपर्युक्त पंक्तियों में सिद्धों ने वर्तमान भूतकालिक कृदन्त प्रत्यय 'इल' का प्रयोग किया है। ऐसे प्रयोग आधुनिक मगही में भी मिलते हैं। मागधी अपभ्रंश से आधुनिक मगही पूर्णत: सम्बद्ध है। अपभ्रंश में प्रयुक्त विभक्तियुक्त संज्ञापदों के रुप मगही में पाये जाते हैं, यथा – 'घरे में दिनरात बइठल ही। बाबू जी घरे न हथुन।' अपभ्रंश काल में विभक्तिबोधक पर सर्गों का प्रयोग होने लगा था, जिनका विकास अन्य भाषाओं के साथ मगही में भी हुआ। इसी प्रकार संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण तथा क्रिया आदि का विकास मागधी (पश्चिमी) अपभ्रंश से हुआ। अपभ्रंश में तत्सम शब्दों के बहिष्कार की प्रकृति दृष्टिगत होती है, आधुनिक मगही में भी यह प्रवृत्ति वर्तमान है। मगही के तद्भव और देशी शब्द-तन्त्र मुख्यत: प्राकृत और अपभ्रंश के शब्द-तन्त्र के ही विकसित रुप हैं। यहां यह बता देना समीचीन है कि सिद्ध साहित्य के रुप में प्राप्त मगही के प्राचीनकालिक स्वरूप के अनन्तर उसके आधुनिक रुप ही मिलते हैं, मध्यकालीन स्वरूप अप्राप्त है।

विशेषताएँ

1. 'मागधी' मगध के आस-पास की मूल भाषा है।
2. सामान्यत: कुछ लोग मागधी का सम्बन्ध महाराष्ट्र से मानते हैं।
3. मागधी और लास्सन महाराष्ट्री को एक मानते थे।

4. इसकी अपनी कोई स्वतंत्र रचना नहीं है।
5. निम्न श्रेणी के पात्र जो संस्कृत नाटकों में होते हैं वो इसका प्रयोग करते हैं।
6. अश्वघोष को इसका प्राचीनतम रूप मानते हैं।
7. मागधी की कुछ प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं-
8. इसमें स्, ष् के स्थान पर 'श' मिलता है (सप्यझशत, पुरुषझपुलिश)।
9. इसमें 'र' का सर्वत्र 'ल' हो जाता है (राजाझलाजा)।
10. प्रथमा एकवचन में संस्कृत -अः के स्थान पर यहाँ -ए मिलता है (देवरूझदेवे, सःझशे)।

भाषात्त्व

मगही का स्वतन्त्र भाषात्त्व है, किन्तु मैथिली भाषा वैज्ञानिकों अर्थात जयकान्त मिश्र ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि मगही का स्वतन्त्र अस्तित्त्व है। जयकान्त मिश्र ने मगही को मैथिली की एक उपबोली के रुप में सिद्ध किया है, किन्तु मैथिली और मगही को एक दूसरे से पृथक् करने वाली विशिष्टता दोनों की औच्चारणिक एवं ध्वन्यात्मक परिवर्तन की प्रकिया है। अतः मगही को मैथिली की उपबोली के रुप में स्वीकार नहीं किया जा सकता है। इसका स्वतन्त्र भाषात्त्व है।

मगही तथा भोजपुरी में भी कुछ भाषिक एवं व्याकरणिक एकरुपता दृष्टिगत होती है, किन्तु दोनों भाषाओं का पृथक-पृथक् अस्तित्त्व है। बिहारी बोलियों में पायी जाने वाली आन्तरिक एकरुपता अवश्य मिलती है। किन्तु आन्तरिक विषमता भी प्रभूत रुप में मिलती है। मगही तथा भोजपुरी में व्याकरणिक भिन्नता भी है। मगही क्रियाओं में जहां कर्ता के अनुरुप लिंगभेद नहीं होता वहां भोजपुरी में होता हा। संक्षेपतः यह कहा जा सकता है कि मगही की स्वतन्त्र भाषिक सत्ता है।

मगही भाषा की सीमा का विवेचन करने पर पता चलता है कि यह केवल पटना और गया जिले में ही नहीं अपितु झारखण्ड प्रदेश के हजारीबाग, गिरिडीह आदि जिले में भी बोली जाती है। मगध के पश्चिमी सीमा पर झारखण्ड राज्य के पलामू जिले के कुछ भागों में तथा पूर्व में बिहार राज्य के ही मुंगेर तथा भागलपुर के क्षेत्रों में भी मगही बोली जाती है।

मगही क्षेत्र के उत्तर में गंगापार तिरहुत क्षेत्र में मैथिली बोली का क्षेत्र है। पश्चिम में शाहाबाद तथा पलामू का भोजपुरी क्षेत्र है। उत्तर पूर्वी सीमा पर मुंगेर, भागपुर और संथाल परगना (झारखण्ड) में अंगिका (छिकाछिकी) बोली जाती है। मगही की दक्षिण सीमा पर रांची में सदानी भोजपुरी का क्षेत्र है।

मगही के रूप

ग्रियर्सन ने मगही के दो रुपों को स्वीकार किया है–

1. पूर्वी मगही
2. शुद्ध मगही।

पूर्वी मगही

पूर्वी मगही का कोईशृंखलाबद्ध रुप नहीं है। यह मगही हजारीबाग के दक्षिणपूर्व भाग, मानभूम एवं रांची के दक्षिण पूर्व भाग खारासावां तथा दक्षिण में मयूरभंज एवं बामरा तक बोली जाती है। मालदा जिले के पश्चिमी भाग में भी पूर्वी मगही का क्षेत्र है।

शुद्ध मगही

शुद्ध मगही अपने क्षेत्र में बोली जाती है। यह पश्चिमी क्षेत्र में पटना, गया, हजारीबाग, मुंगेर और भागलपुर जिले में ही नहीं अपितु पूर्व क्षेत्र में रांची के दक्षिण भाग में, सिंहभूम के उत्तरी क्षेत्र में तथा सरायकेला एवं कारसावां के कुछ क्षेत्रों में मगही बोली जाती है।

मिश्रित मगही

पूर्वी मगही तथा शुद्ध मगही के साथ ही मिश्रित मगही की भी एक व्यापक संज्ञा हो सकती है। मिश्रित मगही का रुप वहां दिखाई पड़ता है जहां आदर्श मगही अपनी सीमा पर अन्य सहोदर भाषाओं, जैसे मैथिली और भोजपुरी से एक से एक होकर एवं अपने अस्तित्त्व को क्षीरोदकीभूत कर सीमावर्ती बोलियों के रुप में व्यक्त होती है।

आधुनिक काल में मगही

आधुनिक काल में ही मगही के अनेक रुप दृष्टिगत होते हैं। मगही भाषा का क्षेत्र विस्तार अति व्यापक है, परिणामतः स्थान भेद के कारण इसके रुप भेद भी प्रचलित हैं। प्रत्येक बोली या भाषा कुछ दूरी पर बदल जाती है।

कृष्णदेव प्रसाद के अनुसार

मगही भाषा के निम्नलिखित भेदों का संकेत कृष्णदेव प्रसाद ने किया है–

1. आदर्श–मगही
2. शुद्ध–मगही
3. टलहामगही
4. सोनतरियामगही
5. जंगलीमगही
6. आदर्श– मगही
7. यह मुख्यत: गया जिले में बोली जाती है।

शुद्ध –मगही

इस प्रकार की मगही राजगृह से लेकर बिहारशरीफ के उत्तर चार कोस बयना स्टेशन (रेलवे) पटना जिले के अन्य क्षेत्रों में बोली जाती है

टलहा –मगही

टलहा मगही मुख्य रुप से मोकामा, बड़हिया, बाढ़ अनुमण्डल के इस पार के कुछ पूर्वी भाग और लक्खीसराय थाना के कुछ उत्तरी भाग गिद्धौर और पूर्व में फतुहां में बोली जाती है।

सोनतरिया मगही

सोन नदी के तटवर्ती भू–भाग में पट्ना और गया जिले में सोनतरिया मगही बोली जाती है।

जंगली मगही

राजगृह, गया, झारखण्ड प्रदेश के छोटानागपुर (उत्तरी छोटानागपुर मूलत:) और विशेषतौर से हजारीबाग के वन्य या जंगली क्षेत्रों में जंगली मगही बोली जाती है।

ग्रियर्सन महोदय के अनुसार

श्री कृष्णदेव प्रसाद ने पूर्वी मगही का उल्लेख नहीं किया है। ग्रियर्सन महोदय के अनुसार पूर्वी मगही का क्षेत्र हजारीबाग, मानभूम, दक्षिणभूम,

दक्षिणपूर्व रांची तथा उड़ीसा में स्थित खारसावां एवं मयुरभंज के कुछ भाग तथा छत्तीसगढ़ के वामड़ा में है। मालदा जिले के दक्षिण में भी ग्रियर्सन पूर्वी-मगही की स्थिति स्वीकार करते हैं। भोलानाथ तिवारी ने मगही के चार रुपों का निर्धारण हिन्दी भाषा नामक पुस्तक में किया है–

1. आदर्श-मगही
2. पूर्वी-मगही
3. जंगली-मगही
4. सोनतरी मगही।

भोलानाथ तिवारी के अनुसार

भोलानाथ तिवारी की मान्यता है कि मगही का परिनिष्ठित रुप गया जिले में बोला जाता है। ग्रियर्सन ने भी गया जिले में बोली जाने वाली मगही को विशुद्धतम की संज्ञा दी है। प्राचीन गया जनपद में मगही भाषा के तीन स्पष्ट भेद प्रचलित थे। नवादा अनुमण्डल, औरंगाबाद अनुमण्डल तथा गया के शेष क्षेत्र की मगही में स्पष्ट अन्तर है। किन्तु जिले के पुनर्गठन के पश्चात् गया जिले में एक ही प्रकार की मगही प्रचलित है। पटना जिले के दक्षिणी भाग और प्रायः सम्पूर्ण गया जिले में विशेष रुप से एकरुपता पायी जाती है। पटना और गया जिले की भाषा को ही परिनिष्ठित मगही मानना युक्तिसंगत एवं समीचीन है। अतः ब्रजमोहन पाण्डेय 'नलिन' जो कि पालि भाषा के मगध विश्वविद्यालय में विबागाध्यक्ष हैं मगही साहित्यकारों से निवेदन करते हुऐ लिखते है, 'मगही साहित्याकारों से अतः मेरा निवेदन है कि वे गया की मगही को ही परिनिष्ठित मानकर अपने रचनात्मक कार्यों का सम्पादन करें।'

मगही भाषा के प्राचीन साहित्कार

मगही भाषा के प्राचीन साहित्येतिहास का प्रारम्भ आठवीं शताब्दी के सिद्ध कवियों की रचनाओं से होता है। सरहपा की रचनाओं का सुव्यवस्थित एवं वैज्ञानिक संस्करण दोहाकोष के नाम से प्रकाशित है, जिसके सम्पादक महापण्डित राहुल सांकृत्यायन हैं। सिद्धों की परम्परा में मध्यकाल के अनेक संतकवियों ने मगधी भाषा में रचनायें की। इन कवियों में बाबा करमदास, बाबा सोहंगदास, बाबा हेमनाथ दास आदि अनेक कवियों के नाम उल्लेख हैं।

आधुनिक काल में मगही भाषा

आधुनिक काल में मगही भाषा में साहित्य प्रणयन की परम्परा आगे तीव्र गति से बढ़ी है। श्रीकान्त शास्त्री, आधुनिक मगही साहित्य की चेतना का आरम्भ श्रीकृष्णदेव प्रसाद की रचनाओं से मानते हैं। आधुनिक मगही साहित्य की श्रीवृद्धि करने वालों में श्रीकान्त शास्त्री, श्रीकृष्णदेव प्रसाद, रामनरेश, पाठक, जयराम सिंह, रामनन्दन, मृत्युंज्य मिश्र 'करुणेश' योगेश्वर सिंह 'योगेश' राम नरेश मिश्र 'हंस' बाबूलाल 'मधुकर' सतीश मिश्र, रामकृष्ण मिश्र, रामप्रसाद सिंह, रामनरेश प्रसाद वर्मा, रामपुकार सिंह राठौर, गोवर्धन प्रसाद सदय, सूर्यनारायण शर्मा, मथुरा प्रसाद 'नवीन' श्रीनन्दन शास्त्री, सुरेश दूबे 'सरस' शेषानन्द मधुकर, रामप्रसाद पुण्डरीक, अनिक विभाकर, मिथिलेश जैतपुरिया, राजेश पाठक, सुरेश आनन्द पाठक, देवनन्दन विकल, रामसिंहासन सिंह विद्यार्थी, श्रीधर प्रसाद शर्मा, कपिलदेव प्रसाद त्रिवेदी, 'देव मगहिया' हरिश्चन्द्र प्रियदर्शी, हरिनन्दन मिश्र 'किसलय' रामगोपाल शर्मा 'रुद्र' रामसनेही सिंह 'सनेही' सिद्धेश्वर पाण्डेय 'नलिन' राधाकृष्ण राय आदि के नाम प्रमुक है। जिन कवियों, लेखकों, नाटककारों, कहानीकारों, उपन्यासकारों एवं निबन्धकारों ने साहित्य की विविध विधाओं में रचनाधर्मिता को जिवन्त रखते हुए कलम चलाई है, उनका संक्षिप्त विवरण नीचे दिया जा रहा है :

आधुनिक काल में लोकभाषा और लोकसाहित्य सम्बन्धी अध्ययन के परिणामस्वरूप मगही के प्राचीन परम्परागत लोकगीतों, लोककथाओं, लोकनाट्यों, मुहावरों, कहावतों तथा पहेलियों का संग्रह कार्य बड़ी तीव्रता के साथ किया जा रहा है। साथ ही मगही भाषा में युगोचित साहित्य, अर्थात कविता, कहानी, नाटक, उपन्यास, एकांकी, ललित निबन्ध आदि की रचनाएँ, पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन एवं भाषा और साहित्य पर अनुसंधान भी हो रहे हैं।

प्रबन्ध काव्य एवं महाकाव्य

हरिनाथ मिश्र - ललित रामायन
हरिनाथ मिश्र - ललित भागवत
रामप्रसाद सिंह - लोहा मरद
योगेश्वर प्रसाद सिंह 'योगेश' - गौतम
योगेश पाठक - जरासंध

खण्ड काव्य

मिथिलेश प्रसाद मिथिलेश – रधिया
रामप्रसाद सिंह – सरहपाद
मुक्तक काव्य
रामनरेश प्रसाद वर्मा – च्यवन
स्वर्णकिरण – जीवक, सुजाता
सुरेश दूवे 'सरस – निहोरा
प्रसाद सिंह – परसपल्लव
रामविलास रजकण – वासंती
रामविलास रजकण – दूज के चाँद
रामविलास रजकण – पनसोखा रजनीगंधा
रामपुकार सिंह राठौर – औजन
रामसिंहासन सिंह – जगरना
योगेश्वर प्रसाद 'योगेश – लोटचुट्टी

गीतिकाव्य और कविता

रामकृष्ण मिश्र – गीत के जुड़छाँट
रामकृष्ण मिश्र – बेलपत्तर
रामदास आर्य – गीत आदमी के
स्वर्णकिरण – धरती फट गेलई
श्रीनन्दन शास्त्री – अप्पनगीत
महेन्द्र प्रसाद देहाती – पपिहरा
जय प्रकाश – माटी के दीया
रामाधार सिंह आधार – मगही कवितावली
सतीश कुमार मिश्र – टूसा
स्वर्णकिरण – धरती के पाती
जयनाथ कवि – पनघट
रामनगीना सिंह मगहिया – हलफा
राजेनेद्र सिंह – लुआठी
योगेश्वर प्रसाद सिंह योगेश – तुलसीदास
रंजन कुमार मिश्र – ढ़रकित लोर

मथुरा प्रसाद नवीन – बड़हिया गोली कांड
राजकुमार प्रसाद – लुत्ती
मृत्युंज्य मिश्र करुणेश – गजल हे नाम
दीनबन्धु – तीत–मीठ–गजलगीत
सुरेश दत्त मिश्र – उगेन
रामगोपाल शर्मा रुद्र – उपदेस – गाथा
श्यामप्यारी कुँअर – वंदना
रामनगीना सिंह मगहिया – भोर
स्वर्णकिरण – मुआर
ब्रजमोहन पाण्डेय नलिन (सं) – अतीत – गाथा
रामप्रसाद सिंह (सं.) – झरोखा
रामप्रसाद सिंह (सं.) – मुस्कान
बाबूलाल मधुकर – लहरा
रामनगीना सिंह महरिया – विक्रमपुकार
रामनगीना सिंह महरिया – धरड़या गीत
रामनगीना सिंह महरिया – विक्रम प्रतिज्ञा
रामनगीना सिंह महरिया – गवई गीत
रामनगीना सिंह महरिया – जय मगही
योगेश्वर प्रसाद सिंह योगेश – इँजोर
बाबूलाल मधुकर – अंगुरी के दाग
महेन्द्र प्रसाद शुभांसु – तरस उठल जियरा
गोविन्द प्यासा – बधवा में भेलड़ बिहान
गोविन्द प्यासा – सँझउती
राजेन्द्र पाण्डेय – ढिबरी
कहानी संग्रह
जितेन्द्र वत्स – किरिया करम
श्रीकान्त शास्त्री – मगही कहानी सेंगरन
राजेश्वर पाठक 'ष्राजेश – नगरबहू
लक्ष्मण प्रसाद – कथा थउद
रामनरेश प्रसाद वर्मा – सेजियादान
अभिमन्यु प्रसाद मौर्य – कथा सरोवर

अलखदेव प्रसाद अचल – कथाकली
सुरेश प्रदास निर्द्वेन्द्ध – मुरगा बोल देलक
तारकेश्वर भारती – नैना काजर
राधाकृष्ण – ए नेउर तू गंगा जा
रामनन्दन – लुट गेलिया
ब्रजमोहन पाण्डेय 'ष्नलिन – एक पर एक
रामचन्द्र अदीप – गमला में गाछ
रामचन्द्र अदीप – बिखरइत गुलपासा
नाटक
बाबूलाल मधुकर – नयका भोर
हरिनन्दन किसलय – अप्पन गाँव
बाबूराम सिंह 'ष्लमगोड़ा – गन्धारी के सराप
बाबूराम सिंह 'ष्लमगोड़ा – बुज्झल दीया क मट्टी
अलखदेव प्रसाद अचल – बदलाव
अभिमन्यु प्रसाद मौर्य – प्रेम अइसन होवड हे
सत्येन्द्र प्रसाद सिंह – अँचरवा के लाज
केशव प्रसाद वर्मा – कनहइया क दरद
रानन्दन – कौमुदी महोत्सव
रामनरेश मिस्त्र 'ष्हंस – सुजाता
रघुवीर प्रसाद समदर्शी – भस्मासुर
गोपाल रावत पिपासा – आधी रात के बाद
एकांकी संग्रह
छोटू नारायण शर्मा – मगही के दू फूल
केशव प्रसाद वर्मा – सोना के सीता
उपन्यास
जयनाथ पति – सुनीता
जयनाथ पति – फूलबहादुर
जयनाथ पति – गदहनीत
राजेन्द्र प्रसाद चौधेय – बिसेसरा
राम नन्दन – आदमी आउ देवता
श्रीकान्त शास्त्री – गोदना

चक्रधर शर्मा – हाय रे उ दिन
चक्रधर शर्मा – साक
बाबूलाल मधुकर – रमरतिया
द्वारिका प्रसाद – मोनाभिन्या
उपमा दत्त – पियक्कड़
रामप्रसाद सिंह – नरक–सरग–धरती
रामविलास रजकण – धूमैल धोती

8

ओड़िया साहित्य

1500 इस्वी तक उड़िया साहित्य में धर्म, देव-देवी के चित्रण ही मुख्य ध्येय हुआ करता था पर साहित्य तो सम्पूर्ण रूप से काव्य पर ही आधारित था। उड़िया भाषा के प्रथम महान कवि झंकड़ के सारला दास रहे जिन्हें 'उड़िशा के व्यास' के रूप में जाना जाता है। इन्होने देवी की स्तुति में चंडी पुराण व विलंका रामायण की रचना की थी। 'सारला महाभारत' आज भी घर-घर में पढ़ा जाता है। अर्जुन दास द्वारा लिखित 'राम-विभा' को उड़िया भाषा की प्रथम गीतकाव्य या महाकाव्य माना जाता है।

उड़िया साहित्य को काल और प्रकृति के अनुसार निम्नलिखित प्रकार से बाँटा जा सकता है–

(1) अदियुग (1050-),
(2) मध्ययुग (1550-)
    (क) पूर्व मध्ययुग -- भक्तियुग या धार्मिक या पंचसखा युग,
    (ख) उत्तर मध्ययुग, रीति युग या उपेंद्रभंज युग',
(3) आधुनिक युग या स्वातंर्त्य छ
    (1850 से वर्तमान समय तक)

आदियुग

आदियुग में सरलापूर्व साहित्य भी अंतर्भुक्त है, जिसमें 'बौद्धगान ओर दोहा', गोरखानाथ का 'सप्तांगयोगधारणम्', 'मादलापांजि', 'रुद्रसुधानिधि' तथा 'कलाश चौतिशा' आते हैं। 'बौद्धगान ओ दोहा' भाषादृष्टि, भावधारा तथा

ऐतिहासिकता के कारण उड़ीसा से घनिष्ट रूप में संबंधित है। 'सप्तांगयोगधारणम्' के गोरखनाथकृत होने में संदेह है। 'मादलापांजि' जगन्नाथ मंदिर में सुरक्षित है तथा इसमें उड़ीसा के राजवंश और जगन्नाथ मंदिर के नियोगों का इतिहास लिपिबद्ध है। किंवदंति के अनुसार गंगदेश के प्रथम राजा चोड गंगदेव ने 1042 ई. (कन्या 24 दिन, शुक्ल दशमी दशहरा के दिन) 'मादालापांजि' का लेखन प्रारंभ किया था, किंतु दूसरा मत है कि यह मुगलकाल में 16वीं शताब्दी में रामचंद्रदेव के राजत्वकाल में लिखवाई गई थी। 'रुद्र-सुधा-निधि' का पूर्ण रूप प्राप्त नहीं है और जो प्राप्त है उसका पूरा अंश छपा नहीं है। यह शैव ग्रंथ एक अवधूत स्वामी द्वारा लिखा गया है। इसमें एक योगभ्रष्ट योगी का वृत्तांत है। इसी प्रकार वत्सादास का 'कलाश चौतिशा' भी सरलपूर्व कहलाता है। इसमें शिव जी की वरयात्र और विवाह का हास्यरस में वर्णन है।

वस्तुतः सारलादास ही उड़िया के प्रथम जातीय कवि और उड़िया साहित्य के आदिकाल के प्रतिनिधि हैं। कटक जिले की झंकड़वासिनी देवी चंडी सारला के वरप्रसाद से कवित्व प्राप्त करने के कारण सिद्धेश्वर पारिडा ने अपने को 'शूद्रमुनि' सारलादास के नाम से प्रचारित किया। इनकी तीन कृतियाँ उपलब्ध हैं–1. 'विलंका रामायण', 2. महाभारत और 3. चंडीपुराण। कुछ लोग इन्हें कपिलेन्द्रदेव (1435-1437) का तथा कुछ लोग नरसिंहदेव (1328-1355 ई.) का समकालीन मानते हैं।

इस युग का अर्जुनदास लिखित 'रामविभा' नामक एक काव्यग्रंथ भी मिलता है तथा चैतन्यदासरचित 'विष्णुगर्भ पुराण' और 'निर्गुणमाहात्म्य' अलखपंथी या निर्गुण संप्रदाय के दो ग्रंथ भी पाए जाते हैं।

मध्ययुग

इसके दो विभाग हैं- (क) पूर्वमध्ययुग अथवा भक्तियुग तथा (ख) उत्तरमध्ययुग अथवा रीतियुग।

पूर्वमध्ययुग

इस युग में में पंचसखाओं के साहित्य की प्रधानता है। ये पंचसखा हैं - बलरामदास, जगन्नाथदास, यशोवन्तदास, अनन्तदास और अच्युतानन्ददास। चैतन्यदास के साथ सख्य स्थापित करने के कारण ये 'पंचसखा' कहलाए। वे 'पंच शाखा' भी कहलाते हैं। इनके उपास्य देवता थे पुरी के जगन्नाथ, जिनकी उपासना शून्य

और कृष्ण के रूप में ज्ञानमिश्रा योग-योगप्रधान भक्ति तथा कायसाधना द्वारा की गई। पंचसखाओं में से प्रत्येक ने अनेक ग्रंथ लिखे, जिनमें से कुछ तो मुद्रित हैं, कुछ अमुद्रित और कुछ अप्राप्य भी।

16वीं शताब्दी के प्रथमार्ध में दिवाकरदास ने 'जगन्नाथचरितमृत' के नाम से पंचसखाओं के जगन्नाथदास की जीवनी लिखी तथा ईश्वरदास ने चैतन्यभागवत लिखा। सालवेग नामक एक मुसलमान भक्तकवि के भी भक्तिरसात्मक अनेक पद प्राप्त हैं।

इसी युग में शिशुशंकरदास, कपिलेश्वरदास, हरिहरदास, देवदुर्लभदास, तथा प्रतापराय की क्रमशः 'उषाभिलाष', 'कपटकेलि', 'चद्रावलिविलास', 'रहस्यमंजरी' और 'शशिसेणा' नामक कृतियाँ भी उपलब्ध हैं।

रीतियुग

इस युग में में पौराणिक और काल्पनिक दोनों प्रकार के काव्य हैं। नायिकाओं में सीता और राधा का नखशिख वर्णन किया गया है। इस युग का काव्य, शब्दालंकार, क्लिष्ट शब्दावली औरशृंगाररस से पूर्ण है। काव्यलक्षण, नायक-नायिका-भेद आदि को विशेष महत्त्व दिया गया। उपेंद्रभंज ने इसको पराकाष्ठा पर पहुँचा दिया, अतः इस युग का नाम भंजयुग पड़ गया, किंतु यह काल इसके पहले शुरू हो गया था। उपेंद्रभंज के पूर्व के कवि निम्नांकित हैं :

धनंजयभंज- ये उपेंद्रभंज के पितामह और घुमसर के राजा थे। इनकी कृतियाँ हैं–रघुनाथविलास काव्य, त्रिपुरसुंदरी, मदनमंजरी, अनंगरेखा, इच्छावती, रत्नपरीक्षा, अश्व और गजपरीक्षा आदि। कुछ लक्षणग्रंथ और चौपदीभूषण आदि संगीतग्रंथ भी हैं।

दीनकृष्णदास (1651-1703)- व्यक्तित्त्व के साथ साथ इनका काव्य भी उच्च कोटि का था। 'रसकल्लोल', 'नामरत्नगीता', 'रसविनोद', 'नावकेलि', 'अलंकारकेलि', 'आर्तत्रण', 'चौतिशा' आदि इनकी अनेक कृतियाँ प्राप्य हैं।

वृंदावती दासी, भूपति पंडित तथा लोकनाथ विद्यालंकार की क्रमशः 'पूर्णतम चंद्रोदय', प्रेमपंचामृत' तथा 'एक चौतिशा' और 'सर्वागसुंदरी', 'पद्मावती परिणय', 'चित्रकला', 'रसकला' और 'वृंदावन-विहार-काव्य', नाम की रीतिकालीन काव्यलक्षणों से युक्त कृपियाँ मिलती हैं।

उपेंद्रभंज (1685-1725) - ये रीतिकाल के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं। इनके कारण ही रीतियुग को भंजयुग भी कहा जाता है। शब्दवैलक्षण्य, चित्रकाव्य एवं छंद, अलंकार आदि के ये पूर्ण ज्ञाता थे। इनकी अनेक प्रतिभाप्रगल्भ कृतियों ने उड़िया साहित्य में इनकों सर्वश्रेष्ठ पद पर प्रतिष्ठित किया है। 'वैदेहीशविलास', 'कलाकउतुक', 'सुभद्रापरिणय', 'ब्रजलीला', 'कुंजलीला', आदि पौराणिक काव्यों के अतिरिक्त लावण्यवती, कोटि-ब्रह्मांड-सुंदरी, रसिकहारावली आदि अनेक काल्पनिक काव्यग्रंथ भी हैं। इन काव्यों में रीतिकाल के समस्त लक्षणों का संपूर्ण विकास हुआ है। कहीं कहीं सीमा का अतिक्रमण कर देने के कारण अश्लीलता भी आ गई है। इनका 'बंधोदय' चित्रकाव्य का अच्छा उदाहरण है। 'गीताभिधान' नाम से इनका एक कोशग्रंथ भी मिलता है, जिसमें कांत, खांत आदि अंत्य अक्षरों का नियम पालित है। 'छंदभूषण' तथा 'षड्ऋतु' आदि अनेक कृतियाँ और भी पाई जाती हैं।

भंक्तिकालीन साहित्य के बाद उड़िया साहित्य में चैतन्य प्रभावित गौड़ीय वैष्णव धर्म और रीतिकालीन लक्षण, दोनों का समन्वय देखने में आता है। इस काल के काव्य प्रायः राधाकृष्ण-प्रेम-परक हैं और इनमें कहीं कहीं अश्लीलता भी आ गई है। इनमें प्रधान हैं–सच्चिदानंद कविसूर्य (साधुचरणदास), भक्तचरणदास, अभिमन्युसामंत सिंहार, गोपालकृष्ण पट्टनायक, यदुमणि महापात्र तथा बलदेव कविसूर्य आदि।

इस क्रम में प्रधानतया और दो व्यक्ति पाए जाते हैं–(1) ब्रजनाथ बडजेना और (2) भीमभोई। ब्रजनाथ बडजेना ने 'गुंडिचाविजे' नामक एक खोरता (हिंदी) काव्य भी लिखा था। उनके दो महत्त्वपूर्ण ग्रंथ हैं–'समरतंरग' और 'चतुरविनोदष। भीमभोई जन्मांध थे और जाति के कंध (आदिवासी) थे। वे निरक्षर थे, लेकिन उनके रचित 'स्तुतिचिंतामणि', 'ब्रह्मनिरूपण गीता' और अनके भजन पाए जाते हैं। उड़िया में वे अत्यंत प्रख्यात हैं।

आधुनिक युग

यद्यपि ब्रिटिश काल से प्रारंभ होता है, किंतु अंग्रेजी का मोह होने के साथ ही साथ प्राचीन प्रांतीय साहित्य और संस्कृत से साहित्य पूरी तरह अलग नहीं हुआ। फारसी और हिंदी का प्रभाव भी थोड़ा बहुत मिलता है। इस काल के प्रधान कवि राधानाथ राय हैं। ये स्कूल इंस्पेक्टर थे। इनपर अंग्रेजी साहित्य का

प्रभाव स्पष्ट है। इनके लिखे 'पार्वती', 'नंदिकेश्वरी', 'ययातिकेशरी', आदि ऐतिहासिक काव्य हैं। 'महामात्र' प्रथम अमित्रक्षर छंद में लिखित महाकाव्य है, जिस पर मिल्टन का प्रभाव है। इन्होंने मेघदूत, वेणीसंहार और तुलसी पद्यावली का अनुवाद भी किया था। इनकी अनेक फुटकल रचानाएँ भी हैं। आधुनिक युग को कुछ लोग राधानाथ युग भी कहते हैं।

ओड़िया उपन्यास सम्राट फकीर मोहन सेनापति

बंगाल से राजेंद्रलाल मित्र द्वारा चलनेवाले 'उड़िया एक स्वतंत्र भाषा नहीं है' आंदोलन का करारा जवाब देनेवालों में उड़िया के उपन्यास सम्राट् फकीर मोहन सेनापति प्रमुख हैं। उपन्यास में ये बेजोड़ हैं। 'लछमा', 'मामु', 'छमाण आठगुंठ' आदि उनके उपन्यास हैं। 'गल्पस्वल्प' नाम से दो भागों में उनके गल्प भी हैं। उनकी कृति 'प्रायश्चित्त' का हिंदी में अनुवाद भी हुआ है। पद्य में 'उत्कलभ्रमण', 'पुष्पमाला' आदि अनेक ग्रंथ हैं। उन्होंने छांदोग्यउपनिषद्, रामायण, महाभारत आदि का पद्यानुवाद भी किया है।

इस काल के एक और प्रधान कवि मधुसूदन राय हैं। पाठ्य पुस्तकों के अतिरिक्त उन्होंने भक्तिपरक कविताएँ भी लिखी हैं। इनपर रवींद्रनाथ का काफी प्रभाव है।

इस काल में काव्य, उपन्यास और गल्प के समान नाटकों पर भी लोगों की दृष्टि पड़ी। नाटककारों में प्रधान रामशंकर राय हैं। उन्होंने पौराणिक, ऐतिहासिक, सामाजिक, गीतिनाट्य, प्रहसन और यात्र आदि भिन्न भिन्न विषयों पर रचनाएँ की हैं। 'कांचिकावेरी', 'वनमाला', 'कंसवध', 'युगधर्म' आदि इनकी प्रसिद्ध कृतियाँ हैं।

राधानाथ युग के अन्य प्रसिद्ध कवि हैं गंगाधर मेहेर, पल्लीकवि नंदकिशोर वल, (प्राबंधिक और संपादक) विश्वनाथ कर, व्यंगकार गोपाल चंद्र प्रहराज आदि। इसके उपरांत गोपबंधुदास ने सत्यवादी युग का प्रवर्तन किया। इनकी महत्त्वपूर्ण रचनाएँ 'धर्मपद', 'बंदीर आत्मकथा', 'कारा कविता' आदि हैं। नीलकंठ दास तथा गोदावरीश मिश्र आदि इस युग के प्रधान साहित्यिक हैं। पद्मचरण पट्टनायक और कवयित्री कुंतलाकुमारी सावत छायावादी साहित्यकार और लक्ष्मीकांत महापात्र हास्यरसिक हैं।

सत्यवादी युग के बाद रोमांटिक युग आता है। इसके प्रधान कवि मायाधर मानसिंह हैं। उनके 'धूप', 'हेमशस्य', 'हेमपुष्प' आदि प्रधान ग्रंथ हैं।

कालिंदीचरण पाणिग्राही, वैकुंठनाथ पट्टनायक, हरिहर महापात्र, शरच्चंद्र मुखर्जी और अन्नदाशंकर राय ने 'सबुज कवित्व' से सबुज युग का श्रीगणेश किया है। 'वासंती' उपन्यास इनके संमिलित लेखन का फल है।

इसके बाद प्रगतियुग या अत्याधुनिक युग आता है। सच्चिदानंद राउतराय इस युग के प्रसिद्ध लेखक हैं। इनकी रचनाओं में 'पल्लीचित्र', 'पांडुलिपि' आदि प्रधान हैं। आधुनिक समय में उपन्यासकार गोपीनाथ महांति, कान्हुचरण महांति, नित्यानंद महापात्र, कवि राधामोहन गडनायक, क्षुद्रगाल्पिक, गोदावरीश महापात्र आदि हैं।

9

बंगाली साहित्य

बँगला भाषा का साहित्य स्थूल रूप से तीन भागों में बाँटा जा सकता है

1. प्राचीन (950-1,200 ई.),
2. मध्य कालीन (1,200-1,800 ई.) तथा
3. आधुनिक-(1,800 के बाद)।

प्रारंभिक साहित्य बंगाल के जीवन तथा उसके गुण-दोष-विवेचन की दृष्टि से ही अधिक महत्त्वपूर्ण है। चंडीदास, कृत्तिवास, मालाधर, पिपलाई, लोचनदा, ज्ञानदास, कविकंकण, मुकुंदराम, कृष्णदास, काशीराम दास, भारतचंदराय, गुणाकार आदि कवि इसी काल में हुए हैं।

प्राचीन बँगला साहित्य (950 से 1200 ई. तक)

भारत के अन्य विद्वानों की तरह बंगाल के भी विद्वान् संस्कृत की रचनाओं को ही विशेष महत्त्व देते थे। उनकी दृष्टि में वही 'अमर भारती' का पद सुशोभित कर सकती थी। बोलचाल की भाषा को वे परिवर्तनशील और अस्थायी मानते थे। किंतु जनसाधारण तो अपने विचारों और भावों को प्रकट करने के लिए उसी भाषा को पसंद कर सकते थे, जो उनके हृदय के अधिक निकट हो। उसी भाषा में वे उपदेश और शिक्षा ग्रहण कर सकते थे। पुरातन बंगाल में इस तरह की दो भाषाएँ प्रचलित थी-एक तो स्थानीय भाषा, जिसे हम प्राचीन बँगला कह सकते हैं, दूसरी अखिल भारतीय जन साहित्यिक भाषा, जो सामान्यतः समूचे उत्तर भारत में समझी जा सकती थी। इसे नागर या शौरसेनी अपभ्रंश कह सकते हैं, जो मोटे तौर से पश्चिमी उत्तर प्रदेश, पूर्वी पंजाब तथा राजस्थान की भाषा

थी। सामान्य जनता के लिए इन दोनों भाषाओं में थोड़ा-सा साहित्य विद्यमान था। प्रेम और भक्ति के गीत, कहावतें और लोकगीत मातृभाषा में पाए जाते थे। बौद्ध तथा हिंदू धर्म के उपदेशक जनता में प्रचार करने के लिए, जो रचनाएँ तैयार करते थे वे प्रायः पुरानी बँगला तथा नागर अपभ्रंश, दोनों में होती थीं।

पुरातन बँगला की उपलब्ध रचनाओं में 47 चर्यापद विशेष महत्त्व के हैं। ये प्रायः आठ (या कुछ अधिक) पंक्तियों के रहस्यमय गीत हैं, जिनका संबंध महायान बौद्धधर्म तथा नाथपंथ, दोनों से संबद्ध गुप्त संप्रदाय से है। इनका सामान्य बाहरी अर्थ तो प्रायः यों ही समझ में आ जाता है और गूढ़ अर्थ भी साथ की संस्कृत टीका की सहायता से, जो इस संग्रह के साथ ही श्री हरप्रसाद शास्त्री को प्राप्त हुई थी, समझा जा सकता है। इन गीतों या पद्यों में 'कविता' नाम की चीज तो नहीं है, किन्तु जीवन की एकाध झलक अवश्य किसी-किसी में देख पड़ती है। इससे मिलती जुलती कुछ अन्य पद्यात्मक रचनाएँ नेपाल से भी डॉ प्रबोधचंद्र बागची तथा राहुल सांकृत्यायन आदि को प्राप्त हुई थीं।

12वीं शताब्दी के अंत तक पुरातन बँगला में यथेष्ट साहित्य तैयार हो चुका था। जिससे उस समय के एक बंगाली कवि ने यह गर्वोक्ति की थी 'लोग जैसा गंगा में स्नान करने से पवित्र हो जाते हैं, वैसे ही वे 'बंगाल वाणी' में स्नात होकर पवित्र हो सकते हैं।' किंतु दुर्भाग्यवश उक्त 47 चर्यापदों तथा थोड़े से गीतों या पदों के सिवा उस काल की अन्य बहुत ही कम रचनाएँ आज उपलब्ध हैं।

गीतगोविंद के रचयिता जयदेव बंगाल के हिंदू राजा लक्ष्मण सेन (लगभग 1180 ई.) के शासनकाल में विद्यमान थे। राधा और कृष्ण के प्रेम का वर्णन करनेवाले इस सुंदर काव्य में 24 गीत हैं, जो अतुकांत न होकर, सबके सब तुकांत हैं। संस्कृत में प्रायः तुकांत नहीं मिलता। यह तो अपभ्रंश या नवोदित भारतीय-आर्य भाषाओं की विशेषता है। कुछ विद्वानों का मत है कि इन पदों की रचना मूलतः पुरानी बँगला में या अपभ्रंश में की गई थी और फिर उनमें थोड़ा परिवर्तन कर संस्कृत के अनुरूप बना दिया गया। इस तरह जयदेव पुरातन बंगाल के प्रसिद्ध कवि माने जा सकते हैं, जिन्होंने संस्कृत के अतिरिक्त संभवतः पुरानी बँगला में भी रचना की। जो हो, बंगाल के कितने ही परगामी कवियों को उनसे प्रेरणा मिली, इसमें संदेह नहीं।

मध्यकालीन बँगला साहित्य (1200 से 1800 ई. तक)

पुरानी बँगला में कोई बड़ा प्रबंध काव्य रचा गया हो, इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता। उस समय ऐसी रचनाएँ बंगाल में भी प्रायः अपभ्रंश में ही होती थीं। जो हो, मिथिला (बिहार) के प्रसिद्ध कवि विद्यापति ने जब प्रसिद्ध ऐतिहासिक काव्य (कीर्तिलता) की रचना की (लगभग 1,410 ई.) तब उन्होंने भी इसका प्रणयन अपनी मातृभाषा मैथिली में न कर अपभ्रंश में ही किया, यद्यपि बीच-बीच में इसमें मैथिल शब्दों का भी प्रयोग हुआ है। 15वीं शती तथा विशेष रूप से 16वीं शती से ही बड़े प्रबंध काव्यों एवं वर्णनात्मक रचनाओं का निर्माण प्रारंभ हुआ, उदाहरणार्य आदर्श नारी बिहुला और उसके पति लखीधर की कथा, कालकेतु और फुल्लरा का कथानक, इत्यादि।

सन् 1203 में पश्चिमी बंगाल पर तुर्कों का आक्रमण हुआ। व्यापक लूटमार, अपहरण, हत्याकांड, महलों तथा पुस्तकालयों के विनाश तथा बलात् धर्मपरिवर्तन की बाढ़-सी आ गई। ऐसा समय साहित्यिक विकास के अनुकूल हो ही कैसे सकता था। उदार रुख अपनाने वाली सूफी प्रचारकों के आगमन में अभी देर थी।

संक्रमणकालीन साहित्य (1200-1350)

इस समय की साहित्यिक रचनाओं के कोई विशिष्ट प्रामाणिक ग्रंथ नहीं बताए जा सकते। पुराने गायकों और लोकगीतकारों में बिहुला आदि की जो कथाएँ प्रचलित थीं, उन्हीं के आधार पर कुछ अज्ञात कवियों ने रचनाएँ प्रस्तुत की जिन्हें बँगला के प्रारंभिक प्रबंध काव्य की संज्ञा दी जा सकती है। इसी अवधि में बँगला भाषी मुसलिम आबादी का उद्‌भव हुआ और उसमें क्रमशः वृद्धि होती गई। तुर्क आक्रमणकारियों में से बहुतों ने बंगाल की स्त्रियों से ही विवाह कर लिया और धीरे-धीरे 'यहाँ की भाषा, रहन-सहन आदि को' अपना लिया। तुर्की को वे भूल ही गए और अरबी केवल धर्म-कर्म की भाषा रह गई। बंगाल में हिंदू जमींदारों और सामंतों की ही व्यवस्था अभी प्रचलित थी, फलतः मुसलिम विचारों और पद्धतियों का जनजीवन पर अभी दृष्टिगोचर होने योग्य विशेष प्रभाव नहीं पड़ने पाया था।

प्रारंभ का मध्यकालीन साहित्य (1350 से 1607 तक)

कुछ काल के अनंतर बंगाल में शांति स्थापित होने पर जब फिर संस्कृत के अध्ययन, प्रचार आदि की सुविधा प्राप्त हुई तब शिक्षा और साहित्य का मानो प्राथमिक पुनर्जागरण प्रारंभ हुआ। माध्यमिक बँगला के प्रथम महाकवि, जिनके संबंध में हमे कुछ जानकारी है, संभवत: कृत्तिवास ओझा थे (जन्म लगभग 1399 ई.)। संस्कृत रामायण को बँगला में प्रस्तुत करने वाले (लगभग 1418 ई.) वे पहले लोकप्रिय कवि थे जिन्होंने राम का चित्रण वाल्मीकि की तरह शुद्ध मानव और वीर पुरुष के रूप में न कर भगवान के करुणामय अवतार के रूप में किया जिसकी ओर सीधी-सादी भक्तिमय जनता का हृदय सहज भाव से आकर्षित हो सकता था। इसी तरह कृष्णागाथा का वर्णन उसी शताब्दी में (1475 ई.) मालाधर बसु ने किया। यह भागवत पुराण पर आधारित है।

बिहुला की कथा, जो विवाह की प्रथम रात्रि में ही मनसा देवी द्वारा प्रेषित सर्प के द्वारा पति के डसे जाने पर विधवा हो गई थी और जिसने बड़ी-बड़ी कठिनाइयाँ झेलकर देवताओं को तथा मनसा देवी को भी प्रसन्न कर पति को पुन: जीवित करा लेने में सफलता प्राप्त की थी, पतिव्रता नारी के प्रेम और साहस की वह अपूर्व परिकल्पना है, जिसका आविर्भाव कभी किसी भारतीय मस्तिष्क में हुआ हो। यह कथा शायद मुसलमानों के आगमन के पहले से ही प्रचलित थी, किंतु उस पर आधारित प्रथम कथाकाव्य बँगला में 15वीं शती में रचे गए। इनमें से एक के रचयिता विजयगुप्त और दूसरी के विप्रदास पिपलाई माने जाते हैं।

पूर्वमाध्यमिक बँगला के एक प्रसिद्ध कवि चंडीदास माने जाते हैं। इनके नाम से कोई 1200 पद या कविताएँ प्रचलित हैं। उनकी भाषा, शैली आदि में इतना अंतर है कि वे एक ही व्यक्ति द्वारा रचित नहीं जान पड़ती। ऐसा प्रतीत होता है कि माध्यमिक बँगला में इस नाम के कम से कम तीन कवि हुए। पहले चंडीदास (अनंत बडु चंडीदास) श्रीकृष्णकीर्तन के प्रणेता थे, जो चैतन्य के पहले, लगभग 1400 ई. में विद्यमान थे। दूसरे चंडीदास द्विज चंडीदास थे जो चैतन्य के बाद में या उत्तर काल में हुए। इन्होंने ही राधा कृष्ण के प्रेम विषयक उन अधिकांश गीतों की रचना की जिनसे चंडीदास को इतनी लोकप्रसिद्धि प्राप्त हुई। तीसरे चंडीदास दीन चंडीदास हुए जो संग्रह के तीन चौथाई भाग के रचयिता प्रतीत होते हैं। चंडीदास की कीर्ति के मुख्य आधार प्रथम दो चंडीदास ही थे, इसमें संदेह नहीं जान पड़ता।

15वीं शताब्दी में बंगाल पर तुर्क तथा पठान सुलतानों का शासन था, पर उनमें यथेष्ट बंगालीपन आ गया था और वे बँगला साहित्य के समर्थक बन गए थे। ऐसा एक शासक हुसेनशाह था (1493-1519)। उसने चटगाँव के अपने सूबेदारों और पुत्र नासिरुद्दीन नसरत के द्वारा महाभारत का अनुवाद बँगला में करवाया। यह रचना 'पांडवविजय' के नाम से कवींद्र द्वारा प्रस्तुत की गई थी।

इसी समय प्रसिद्ध वैष्णव कवि चैतन्य का आविर्भाव हुआ (1486-1533)। समसामयिक कवियों और विचारकों पर उनका गहरा प्रभाव पड़ा। उनके आविर्भाव और मृत्यु के उपरांत संतों तथा भक्तों के जीवन चरित्रों के निर्माण की परंपरा चल पड़ी। इनमें से कुछ ये हैं-वृंदावनदास कृत चैतन्यभागवत (लग. 1573), लोचनदास कृत चैतन्यमंगलय जयानंद का चैतन्यमंगल तथा कृष्णदास कविरत्न का चैतन्यचरितामृत (लग. 1581)। कृष्ण और राधा के दिव्य प्रेम संबंधी बहुत से गीत और पद भी इस समय रचे गए। बंगाल के इस वैष्णव गीत साहित्य पर मिथिला के विद्यापति का भी यथेष्ट प्रभाव पड़ा जिसकी चर्चा पहले की जा चुकी है।

इसी समय के लगभग बँगला पर 'ब्रजबुलि' का भी प्रभाव पड़ा। मिथिला का राज्य मुसलिम आक्रमणों से प्रायः अछूता रहा। बंगाल के कितने ही शिक्षार्थी स्मृति, न्याय, दर्शन आदि का अध्ययन करने वहाँ जाया करते थे। मिथिला के संस्कृत के विद्वान् अपनी मातृभाषा में भी रचना करते थे। स्वयं विद्यापति ने संस्कृत में ग्रंथ रचना की, किंतु मैथिली में भी उन्होंने बहुत सुंदर प्रेमगीतों का निर्माण किया। उनके ये गीत बंगाल में बड़े लोकप्रिय हुए और उनके अनुकरण में यहाँ भी रचना होने लगी। बंकिमचंद्र तथा रवींद्रनाथ ठाकुर तक ने इस तरह के गीतों की रचना की।

वैष्णव प्रेमगीतकार के रूप में जयदेव कवि की चर्चा हम ऊपर कर चुके हैं। उनके बाद बडुचंडीदास तथा चैतन्य के अनुयाई आते हैं। इनमें उड़ीसा के एक क्षत्रप रामानंद थे जिन्होंने संस्कृत में भी रचना की। गोविंददास कविराज (1512-1) ने ब्रजबुलि में कितने ही सुंदर गीत प्रस्तुत किए। बर्दवान जिले के कविरंजन विद्यापति ने भी ब्रजवुलि में प्रेमगीत लिखे, जिनके कारण वे 'छोटे विद्यापति' के नाम से प्रसिद्ध हुए। 16वीं शती के दो कवियों ने कालकेतु और उसकी स्त्री फुल्लरा तथा धनपति और उसके पुत्र श्रीमंत के आख्यान की रचना की जिसमें चंडी या दुर्गादेवी की महिमा वर्णित की गई। कविकंकण मुकुंददास चक्रवर्ती ने चंडीकाव्य बनाया, जो आज भी लोकप्रिय है। इसमें तत्कालीन बँगला

जीवन की अच्छी झलक देख पड़ती है। पद्यलेखक होते हुए भी वे एक तरह से बंकिमचंद्र तथा शरतचंद्र चटर्जी के पूर्वग माने जा सकते हैं।

उत्तरकालीन माध्यमिक बँगला साहित्य (1600-1800)

वैष्णव गीतकारों तथा जीवनी लेखकों की परंपरा 17वीं शती में चलती रही। जीवनीलेखकों में ईशान नागर (1564) और नित्यानंद (1600 ई.) के बाद यदुनंदनदास (कर्णानंद के लेखक, 1607), राजवल्लभ (कृति मुरलीविलास), मनोहरदास (1652, कृति 'अनुरागवल्ली') तथा घनश्याम चक्रवर्ती (कृति, भक्तिरत्नाकर तथा नरोत्तमविलास) का नाम लिया जा सकता है। गीतलेखकों की संख्या 200 से अधिक है। वैष्णव विद्वानों तथा कवियों ने इनके कई संग्रह तैयार किए थे जिनमें से वैष्णवदास (1770 ई.) का 'पदकल्पतरु' विशेष प्रसिद्ध है। इसमें 170 कवियों द्वारा रचित 3101 पद आए हैं।

इसी समय कुछ धार्मिक ढंग की कथाएँ भी लिखी गईं। इनमें रूपराम कृत धर्ममंगल विशेष प्रसिद्ध है, जिसमें लाऊसैन के साहसिक कार्यों का वर्णन है। इस कथा के ढंग पर मानिक गांगुलि तथा घनराम चक्रवर्ती ने भी रचनाएँ प्रस्तुत कीं। एक और कथानक जिसके आधार पर 17वीं, 18वीं शती में रचनाएँ प्रस्तुत की गई, राजा गोपीचंद का है। वे राजा मानिकचंद्र के पुत्र थे। जब वे गद्दी पर बैठे तो उनकी माता मयनामती को पता चला कि उनके पुत्र को राजपाट तथा स्त्री का परित्याग कर योगी बन जाना चाहिए, नहीं तो उनकी अकालमृत्यु की संभावना है। अत: माता के आदेश से उन्हें ऐसा ही करना पड़ा। भवानीदासकृत 'मयनामतिर गान' तथा दुर्लभ मलिक की रचना 'गोविंदचंद्र गीत' इसी कथानक पर आधारित हैं।

बिहुला की कथा पर 18वीं शती में भी प्रबंध काव्य वंशीदास, केतकादास तथा क्षेमानंद इत्यादि द्वारा-रचे गए। आल्हा के ढंग पर कुछ वीरकाव्य या गाथाकाव्य भी 17वीं शती में रचे गए। इनका एक संग्रह अंग्रेजी अनुवाद सहित दिनेशचंद्र सेन ने तैयार किया, जो कलकत्ता वि. विद्यालय द्वारा प्रकाशित किया गया। इसी समय बंगाली मुसलमान लेखकों ने अरबी और फारसी की प्रेम तथा धर्म कथाएँ बंगला में प्रस्तुत करने का प्रयत्न आरंभ किया। इन कवियों ने उस समय के उपलब्ध बँगला साहित्य का ही अध्ययन नहीं किया, वरन् संस्कृत, अरबी तथा फारसी के ग्रंथों का भी अनुशीलन किया। उन्होंने अवधी या कोशली से मिलती जुलती एक और भाषा-गोहारी या गोआरी-भी सीखी। इसी तरह पूर्वी

हिंदी के क्षेत्र से जो सूफी मुसलमान पूर्वी बंगाल पहुँचे, वे अपने साथ नागरी वर्णमाला भी लेते गए। सिलहट के मुसलमान कवि बहुत दिनों तक इसी सिलेट नागरी' लिपि में बँगला लिखते रहे। उस समय के कुछ मुसलमान कवि ये हैं-दौलत काजी, जिसने 'लोरचंदा' या 'सती मैना' शीर्षक प्रेमकाव्य लिखा, कुरेशी मागन ठाकुर जिसने 'चंद्रावती' की रचना की, मुहम्मद खाँ, जिसकी दो रचनाएँ (मौतुलहुसेन तथा केयामतनामा) प्रसिद्ध है, तथा अब्दुल नबी जिसने बड़ी सुंदर शैली में 'आमीर हामजा' का प्रणयन किया। इनके सिवा 17वीं शती के एक और प्रसिद्ध मुसलिम कवि आला ओल हैं, जिनकी कृति 'पद्मावती' (1651) यथेष्ट लोकप्रिय रही। यह हिंदी कवि मलिक मुहम्मद जायसी की इसी नाम की रचना का रूपांतर है। इनकी अन्य रचनाएँ हैं-सैफुल मुल्क बदीउज्जमाँ (सहस्ररजनीचरित्र के आधार पर रचित प्रेमकाव्य), हफ्त पैकार, सिकंदरनामा तथा तोहफा।

17वीं शती के तीन हिंदू कवियों - काशीरामदास, जिन्होंने महाभारत का अनुवाद बँगला पद्य में किया, उनके बड़े भाई कृष्णकिंकर, जिन्होंने श्रीकृष्णविलास बनाया, तथा जगन्नाथमंगल के लेखक गदाधर।

18वीं शती के कुछ प्रसिद्ध कवि ये हैं - रामप्रसाद सेन (मृत्यु 1775) जिनके दुर्गा संबंधी गीत आज भी लोकप्रिय है, भारतचंद्र, जिनका 'अन्नदामंगल' (या कालिकामंगल) काव्य बँगला की एक परिष्कृत रचना है, राजा जयनारायण, जिन्होंने पद्मपुराण के काशीखंड का बँगला में अनुवाद किया और उस समय के बनारस का बहुत ही मनोरंजक विवरण उसमें समाविष्ट कर दिया। इस काल में हलके फुलके गीतों तथा समस्यापूर्ति के रूप में लिखे गए सद्यरूप्रस्तुत पद्यों का काफी जोर रहा। कुछ मुसलमान कवियों ने मुहर्रम तथा कर्बला के संबंध में रचनाएँ प्रस्तुत कीं (मुहर्रम पर्व या जंगनामा हायत मुहम्मद, नसरुल्ला खाँ तथा याकूब अली द्वारा रचित)। लैला मजनू पर दौलत वजीर बहराम ने लिखा और मुहम्मद साहब के जीवन पर भी ग्रंथ प्रस्तुत किए गए।

बँगला गद्य के कुछ नमूने सन् 1550 के बाद पत्रों तथा दस्तावेजों के रूप में उपलब्ध हैं। कैथलिक धर्म संबंधी कई रचनाएँ पोर्तगाली तथा अन्य पादरियों द्वारा प्रस्तुत की गई और 1778 में नथेनियल ब्रासी हलहद ने बंगला व्याकरण तैयार कर प्रकाशित किया। 1799 में फोर्ट विलियम कालेज की स्थापना के बाद बाइबिल के अनुवाद तथा बँगला गद्य में अन्य ग्रंथ तैयार कराने का उपक्रम किया गया।

आधुनिक बँगला साहित्य (1800 से 1950 तक)

19वीं सदी में अंग्रेजी भाषा के प्रसार और संस्कृत के नवीन अध्ययन से बँगला के लेखकों में नए जागरण और उत्साह की लहर सी दौड़ गई। एक ओर जहाँ कंपनी सरकार के अधिकारी बँगला सीखने के इच्छुक अंग्रेज कर्मचारियों के लिए बँगला की पाठ्यपुस्तकें तैयार करा रहे थे और बेपतिस्त मिशन के पादरी कृत्तिवासीय रामायण का प्रकाशन तथा बाइबिल आदि का बँगला अनुवाद प्रस्तुत कराने का प्रयत्न कर रहे थे, वहाँ दूसरी ओर बंगाली लेखक भी गद्य-ग्रंथलेखन की ओर ध्यान देने लगे थे। रामराम बसु ने राजा प्रतापादित्य की जीवनी लिखी और मृत्युजंय विद्यालंकार ने बँगला में 'पुरुष परीक्षा' लिखी। 1818 में 'समाचारदर्पण' नामक साप्ताहिक के प्रकाशन से बँगला पत्रकारिता की भी नींव पड़ी।

राजा राममोहन राय ने भारतीयों के 'आधुनिक' बनने पर बल दिया। उन्होंने ब्रह्मसमाज की स्थापना की। उन्होंने कतिपय उपनिषदों का बँगला अनुवाद तैयार किया। अंग्रेजी में बँगला व्याकरण (1826) लिखा और अपने धार्मिक तथा सामाजिक विचारों के प्रचारार्थ बँगला और अंग्रेजी, दोनों में छोटी-छोटी पुस्तिकाएँ लिखीं। इसी समय राजा राधाकांत देव ने 'शब्दकल्पद्रुम' नामक संस्कृत कोष तैयार किया और भवानीचरण बनर्जी ने कलकतिया समाज पर व्यंग्यात्मक रचनाएँ प्रस्तुत कीं।

प्रारंभिक गद्यलेखकों की भाषा, प्रचलित संस्कृत शब्दों के प्रयोग के कारण, कुछ कठिन थी किंतु 1850 के लगभग अधिक सरल और प्रभावपूर्ण शैली का प्रचलन आरंभ हो गया। ईश्वरचंद्र विद्यासागर, प्यारीचंद मित्र आदि का इसमें विशेष हाथ था। विद्यासागर ने अंग्रेजी तथा संस्कृत ग्रंथों का अनुवाद बँगला में किया और गद्य की सुंदर, सरल शैली का विकास किया। प्यारीचंद मित्र ने 'आलालेर घरेर दुलाल' नामक सामाजिक उपन्यास लिखा (1858)। अक्षयकुमार दत्त ने विविध विषयों पर कई निबंध लिखे। अन्य गद्यलेखक थे - राजनारायण बसु, ताराशंकर तर्करत्न (जिन्होंने 'कादंबरी' का संक्षिप्त रूपांतर बँगला में प्रस्तुत किया) तथा तारकनाथ गांगुलि (जिन्होंने प्रथम यथार्थवादी सामाजिक उपन्यास 'स्वर्णलता' प्रकाशित किया)।

माइकेल मधुसूदन दत्त को हम उस समय के 'युवक बंगाल' का प्रतिनिधि मान सकते हैं, जिसके हृदय में अन्य युवकों की तरह आत्मविकास तथा आत्माभिव्यक्ति का बहुत सीमित अवकाश ही हिंदू समाज में मिलने के कारण

एक प्रकार का असंतोष सा व्याप्त हो उठा था। इसका एक विशेष कारण उनका अंग्रेजी तथा अन्य विदेशी साहित्य के संपर्क में आना था। ईसाई धर्म में अभिषिक्त होने के बाद मधुसूदन ने पहले अंग्रेजी में, फिर बँगला में लिखना आरंभ किया। उन्होंने भारतीय विषयों पर ही लेखनी चलाई पर उन्हें युरोपीय ढंग पर सँवारा, सजाया। उनकी मुख्य रचनाएँ हैं – मेघनादवध काव्य, वीरांगना काव्य तथा व्रजांगना काव्य। उन्होंने बँगला में अनुप्रासहीन कविता का प्रचलन किया और इटैलियन सोनेट की तरह चतुर्दशपदियों की भी रचना की।

बंकिमचंद्र चट्टोपध्याय रवींद्रनाथ ठाकुर के आगमन के पूर्व बँगला के सर्वश्रेष्ठ लेखक माने जाते हैं। उनका साहित्यिक जीवन अंग्रेजी में लिखित 'राजमोहन की स्त्री' नामक उपन्यास (1864) से आरंभ होता है। बँगला में पहला उपन्यास उन्होंने दुर्गेशनंदिनी (1865) के नाम से लिखा। इसके बाद उन्होंने एक दर्जन से अधिक सामाजिक तथा ऐतिहासिक उपन्यास लिखे। इनके कारण बँगला साहित्य में उन्हें स्थायी स्थान प्राप्त हो गया और आधुनिक भारत के विचारशील लेखकों तथा चिंतकों में उनकी गणना होने लगी। 1872 में उन्होंने 'बंगदर्शन' नामक साहित्यिक पत्र निकाला जिसने बँगला साहित्य को नया मोड़ दिया। उनके ऐतिहासिक उपन्यासों में राजसिंह, सीताराम, तथा चंद्रशेखर मुख्य हैं। सामाजिक उपन्यासों में 'विषवृक्ष' तथा 'कृष्णकांतेर विल का स्थान ऊँचा है। उनका 'कपालकुंडला' शुद्ध प्रेम और कल्पना का उत्कृष्ट नमूना माना जा सकता है। 'आनंदमठ' प्रसिद्ध राजनीतिक उपन्यास है, जिसका 'वंदेमातरम्' गीत चिरकाल तक भारत का राष्ट्रीयगान माना जाता रहा और आज भी इस रूप में इसका समादर है। उनके उपन्यासों तथा अन्य रचनाओं का भारत की प्रायः सभी भाषाओं में अनुवाद हो चुका है।

एक और प्रसिद्ध व्यक्ति जिसे भारत के पुनर्जागरण में मुख्य स्थान प्राप्त हैं, स्वामी विवेकानंद हैं। भारत की गरीब जनता ('दरिद्रनारायण') की सेवा ही उनका लक्ष्य था। उन्होंने अमरीका और यूरोप जाकर अपने प्रभावकारी भाषणों द्वारा हिंदू धर्म का ऐसा विशद विवेचन उपस्थित किया कि उसे पश्चिमी देशों में अच्छी प्रतिष्ठा प्राप्त हो गई। बँगला तथा अंग्रेजी, दोनों के वे प्रभावशील लेखक थे। रंगलाल बंद्योपाध्याय ने राजपूतों की वीरगाथाओं के आधार पर 'पद्मिनी' (1858), कर्मदेवी (1862) तथा सूरसुंदरी (1868) की रचना की। कालिदास के 'कुमारसंभव' का बँगला अनुवाद भी उन्होंने प्रस्तुत किया।

बँगला नाटकों का उदय 1870 के आस-पास माना जा सकता हैं, यद्यपि इसके पहले भी इस दिशा में कुछ प्रयास किया जा चुका था। बंगाल में पहले एक तरह के धार्मिक नाटक प्रचलित थे, जिन्हें 'यात्र' नाटक कहते थे। इनमें दृश्य और परदे नहीं होते थे, गायन और वाद्य की प्रधानता होती थी। एक रूसी नागरिक, जेरासिम लेबेडेव ने 1795 में कलकत्ता आकर बँगला की प्रथम नाट्यशाला स्थापित की, जो चली नहीं। संस्कृत नाटकों के सिवा अंग्रेजी नाटकों तथा कलकत्ते में स्थापित अंग्रेजी रंगमंच से बँगला लेखकों को प्रेरणा मिली। दीनबंधु मित्र ने कई सुखांत नाटक लिखे। उनके एक नाटक नीलदर्पण (1860) में निलहे गोरों के उत्पीड़न का मार्मिक चित्रण हुआ था जिससे इस प्रथा की बुराइयाँ दूर करने में सहायता मिली।

राजा राजेंद्रलाल मित्र (1822-91) इतिहासलेखक और प्रथम बंगाली पुरातत्त्वज्ञ थे। भूदेव मुखोपाध्याय (1825-94) शिक्षाशास्त्री, गद्यलेखक और पत्रकार थे। समाज और संस्कृति के संरक्षण तथा पुनरुद्धार संबंधी उनके लेखों का आज भी यथेष्ट महत्त्व है। कालीप्रसन्न सिंह कट्टर हिंदू समाज के एक और प्रगतिशील लेखक थे। उन्होंने महाभारत का बँगला गद्य में तथा संस्कृत के दो नाटकों का भी अनुवाद किया। उन्होंने कलकत्ते की बोलचाल की बँगला में 'हुतोम पेंचार नक्शा' नामक रचना प्रस्तुत की, जिसमें उस समय के कलकतिया समाज का अच्छा चित्रण किया गया था। बँगला के प्रतिष्ठित साहित्य में इसकी गणना है। हेमचंद बंदोपाध्याय (1838-1903) ने शेक्सयिर के दो नाटकों 'रोमियों और जूलियट' तथा 'टेंपेस्ट' का बँगला में अनुवाद किया। मेघनादवध से प्रोत्साहित होकर उन्होंने 'वृत्तसंहार' नामक महाकाव्य की रचना की। नवीनचंद्र सेन (1847- 1909) ने कुरुक्षेत्र, रैवतक तथा प्रभास नाटक बनाए तथा बुद्ध, ईसा और चैतन्य के जीवन पर अमिताभ, ख्रीष्ट तथा अमृताभ नामक लंबी कविताएँ लिखीं। पलासीर युद्ध तथा रंगमती और भानुमती के भी लेखक वही थे। पाँच खंडों में अपनी जीवनी 'आमार जीवन' भी उन्होंने लिखी।

रवींद्रानाथ ठाकुर के सबसे बड़े भाई द्विजेंद्रनाथ ठाकुर (1840-1926) कवि, संगीतज्ञ तथा दर्शनशास्त्री थे। उनकी प्रसिद्ध रचना 'स्वप्नप्रयाण' है। रवींद्रनाथ के एक और बड़े भाई ज्योतींद्रनाथ ठाकुर थे। उनके लिखे चार नाटक बड़े लोकप्रिय थे - पुरुविक्रम, सरोजिनी, आशुमती तथा स्वप्नमयी। उन्होंने फ्रेंच भाषा, अंग्रेजी तथा मराठी से भी कई ग्रंथों का अनुवाद किया।

रमेशचंद्र दत्त ने ऋग्वेद का बँगला अनुवाद किया। भारतीय अर्थशास्त्र के भी वे लेखक थे और उन्होंने कई उपन्यास भी लिखे- 1. राजपूत जीवनसंध्या, 2. महाराष्ट्र जीवनसंध्याय 3. माधवी कंकणय 4. संसार, तथा 5. समाज। इनके समसामयिक गिरीशचंद्र घोष बँगला के महान नाटककार थे। उन्होंने 90 नाटक, प्रहसन आदि लिखे, जिनमें से कुछ ये हैं - बिल्वमंगल, प्रफुल्ल, पांडव गौरव, बुद्धदेवचरित, चैतन्य लीला, सिराजुद्दौला, अशोक, हारानिधि, शंकराचार्य, शास्ति की शांति। शेक्सपियर के मेकबेथ नाटक का बँगला अनुवाद भी उन्होंने किया। अमृतलाल बसु भी गिरीशचंद्र घोष की तरह अभिनेता नाटककार थे। हास्य रस से पूर्ण उनके नाटक तथा प्रहसन बँगला भाषियों में काफी लोकप्रिय हैं। वे बंगाल के मोलिए कहलाते थे, जिस तरह गिरीशचंद्र बंगाली शेक्सपियर माने जाते थे।

हास्यरस के दो और बँगला लेखक इस समय हुए-त्रैलोक्यनाथ मुखेपाध्याय (1847-1919), उपन्यासकार तथा लघुकथा लेखक और इंद्रनाथ बंदोपाध्याय (1849-1911), निबंधलेखक तथा व्यंग्यकार।

संस्कृत और इतिहास के प्रसिद्ध विद्वान् हरप्रसाद शास्त्री (1853-1931) का उल्लेख पहले 47 चर्यापद के सिलसिले में किया जा चुका है। वे उपन्यासकार और अच्छे निबंधलेखक भी थे। उनके दो उपन्यास हैं- 'बेणेर मेये' तथा 'कांचनमाला'। भारतीय साहित्य, धर्म तथा सभ्यता के संबंध में उनके लेख विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। उनका लिखा 'वाल्मीकिर जय' नामक गद्यकाव्य बड़ी सुन्दर और प्रभावोत्पादक बँगला में लिखा गया है।

राष्ट्रीय आंदोलन की शुरुआत 1857 के आसपास हो चुकी थी। 1885 में राष्ट्रीय महासभा की स्थापना से इसे बल मिला और 1905 में लार्ड कर्जन द्वारा किए गए बंगाल के विभाजन ने इसमें आग फूँक दी। स्वदेशी का जोर बढ़ा और भाषा तथा साहित्य पर भी इसका गहरा प्रभाव पड़ा। सन् 1913 में रवींद्रनाथ ठाकुर को नोबेल पुरस्कार मिलने से बंगाल तथा भारत में राष्ट्रीय भावना की प्रबलता बढ़ गई और बँगला साहित्य में एक नए युग का आरंभ हुआ जिसे हम 'रवींद्रनाथ युग' की संज्ञा दे सकते हैं।

रवींद्रनाथ ठाकुर (1861-1941) में महान लेखक होने के लक्षण शुरू से ही देख पड़ने लगे थे। क्या कविता और क्या नाटक, उपन्यास और लघु कथा, निबंध और आलोचना, सभी में उनकी बहुमुखी प्रतिभा ने नया चमत्कार उत्पन्न कर दिया। उनके विचारों और शैली ने बँगला साहित्य को मानो नया मोड़ दे दिया। व्यापक दृष्टि और गहरी भावना से संपृक्त उत्कृष्ट सौंदर्य तथा अज्ञात की

रहस्यमय अनुभूति उनकी रचनाओं में स्थान स्थान पर अभिव्यक्त होती देख पड़ती हैं। गीत रचनाकार के रूप में वे अद्वितीय हैं। प्रेम, प्रकृति, ईश्वर और मानव पर लिखे गए उनके गीतों की संख्या 200 से ऊपर है। ये गीत परमात्म और आधिदैविक शक्ति की रहस्यमय भावना से ओतप्रोत हैं, इस कारण संसार के महान रहस्यवादी लेखकों में उनकी गणना की जाती है। उनके निबंध स्वस्थ चिंतन एव सुस्पष्ट विवेचन के लिए प्रसिद्ध हैं। वे बुद्धिपरक भी हैं तथा कल्पना प्रधान भी, याथार्थिक भी हैं और काव्यमय भी। उनके उपन्यास तथा लघुकथाएँ तथ्यात्मक, नाटकीयता पूर्ण एवं अंर्तदृष्टि प्रेरक हैं। वे अंतरराष्ट्रीयता एवं मानव एकता के बराबर समर्थक रहे हैं। उन्होंने अथक रूप से इस बात का प्रयत्न किया कि भारत अपनी गौरवपूर्ण प्राचीन बातों की रक्षा करते हुए भी विश्व के अन्य देशों से एकता स्थापित करने के लिए तत्पर रहे।

रवींद्रनाथ के समसामयिक लेखकों में कितने ही विशेष उल्लेखनीय हैं। उनके नाम हैं-

1. गोर्विदचंद्रदास, कविय
2. देवेंद्रनाथ सेन, कविय
3. अक्षयकुमार बड़ाल, कविय
4. श्रीमती कामिनी राय, कवयित्रीय
5. श्रीमती सुवर्णकुमारी देवी, कवयित्रीय
6. अक्षयकुमार मैत्रेय, इतिहासलेखकय
7. रामेद्रसुंदर त्रिवेदी, निबंधलेखक, वैज्ञानिक एवं दर्शनशास्त्रीय
8. प्रभातकुमार मुखर्जी, उपन्यासकार तथा लघुकथा लेखकय
9. द्विजेंद्रलाल राय, कवि तथा नाटककारय
10. क्षीरोदचंद्र विद्याविनोद, लगभग 50 नाटकों के प्रणेताय
11. राखालदास वंद्योपाध्याय, इतिहासकार और ऐतिहासिक उपन्यासों के लेखक,
12. रामानंद चटर्जी, सुप्रसिद्ध पत्रकार जिन्होंने 40 वर्ष तक माडर्न रिव्यू तथा बँगला प्रवासी का संपादन किया,
13. जलधर सेन, उपन्यासलेखक तथा पत्रकार,
14. श्रीमती निरुपमा देवी तथा
15. श्रीमती अनुरूपा देवी, सामाजिक उपन्यासों की लेखिका।

आधुनिक बँगला के सर्वप्रसिद्ध उपन्यासकार शरच्चंद्र चटर्जी (1876–1938) माने जाते हैं। सरल और सुंदर भाषा में लिखे गए इनके कुछ उपन्यास ये हैं – श्रीकांत, गृहदाह, पल्ली समाज, देना पावना, देवदास, चंद्रनाथ, चरित्रहीन, शेष प्रश्न आदि।

यद्यपि समस्त बँगाल प्रदेश में परिनिष्ठ बँगला का ही साहित्य में विशेष प्रयोग होता है फिर भी बहुत से ग्रंथ कलकत्ता तथा आस पास की बोलचाल की भाषा में लिखे गए हैं तथा लिखे जा रहे हैं। उपन्यासों में रंगमंच पर तथा रेडियो और सिनेमा में उसका प्रयोग बहुलता से होता है। पिछले 30–35 वर्ष में, रवींद्रयुग की प्रधानता होते हुए भी, कितने ही युवक लेखकों ने नग्न यथार्थवाद के पथ पर चलने का प्रयत्न किया, यद्यपि इसमें अब यथेष्ट शिथिलता आ गई है। इसके बाद कुछ लेखकों में समाजवाद तथा साम्यवाद (कम्यूनिज्म) की भी प्रवृत्ति देख पड़ी। इसी तरह अंग्रेजी तथा रूसी साहित्य का भी बहुत कुछ प्रभाव बँगला लेखकों पर पड़ा। किंतु वर्तमान बँगला साहित्य में कथासाहित्य की ही विशेष प्रधानता है, जिसका लक्ष्य मानव जीवन और मानव स्वभाव का सम्यग् रूप से चित्रण करना ही है। कितने ही लेखक रवींद्र तथा शरत बाबू की परंपरा पर चलने का प्रयत्न कर रहे हैं। कुछ के नाम ये हैं – (कवियों में) जतींद्रमोहन बागची, करुणानिधान बंद्योपाध्याय, कुमुदरंजन मलिक, कालिदास राय, मोहितलाल मजूमदार, श्रीमती राधारानी देवी, अमिय चक्रवर्ती प्रेगेंद्र मित्र, सुधींद्रनाथ दत्त, विमलचंद्र घोष, विष्णु दे, इत्यादि। गद्य लेखकों में इनके नाम लिए जा सकते हैं– ताराशंकर बैनर्जी, विभूतिभूषण बैनर्जी (पथेर पांचाली, आरण्यक के लेखक जिन्होंने बंगाल के ग्राम्य जीवन का चित्रण किया है), राजशेखर वसु (हास्य कथालेखक), आनंदशंकर राय, डॉ. बलाईचाँद मुखर्जी, सतीनाथ भादुड़ी, मानिक बैनर्जी, शैलजानं मुखर्जी, प्रथमनाथ वसु, नरेंद्र मित्र, गौरीशंकर भट्टाचार्य, समरेश वसु, वाजिद अली, बुद्धदेव, काजी अब्दुल वदूद, नरेंद्रदेव, डॉ. सुकुमार सेन, गोपाल हालदार, श्रीमती शांतादेवी, सीतादेवी, अवधूत, इत्यादि।

यहाँ श्री अवनींद्रनाथ ठाकुर (1871–1951) का भी उल्लेख कर देना चाहिए। उन्होंने कितनी ही पुस्तकें बालकों की दृष्टि से लिखीं और उनकी चित्रसज्जा स्वयं प्रस्तुत की। ये पुस्तकें कल्पनात्मक साहित्य के अन्य प्रेमियों के लिए भी अत्यंत रोचक हैं। उन्होंने कुछ छोटे–छोटे नाटक भी लिखे और कला पर कुछ गंभीर निबंध भी प्रकाशित किए। इसी तरह योगी अरविंद घोष का भी नाम यहाँ लिया जाना चाहिए जिनकी महत्त्वपूर्ण रचनाओं से बँगला साहित्य की श्रीवृद्धि में सहायता मिली।

यद्यपि विभाजन के पूर्व कुछ मुसलिम राजनीतिज्ञों की राय थी कि बँगला में मुसलिम भावनाओं से प्रेरित स्वतंत्र मुसलिम साहित्य का विकास होना चाहिए किंतु श्रेष्ठ मुसलिम लेखकों ने भाषा में इस तरह के पार्थक्य की कभी कल्पना नहीं की, भले ही कुछ लेखकों ने अपनी कृतियों में हिंदुओं की अपेक्षा अधिक अरबी-फारसी शब्दों का प्रयोग करना शुरू कर दिया। पुराने मुसलिम कवियों में कैकोवाद अधिक प्रसिद्ध है और उपन्यासलेखकों में मशरफ हुसेन का नाम लिया जा सकता है, जिनके जंगनामा की तर्ज पर लिखित 'विषाद सिंधु' के एक दर्जन से अधिक संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। शिक्षित मुस्लिम समाज में कितने ही लेखक उपन्यास, कहानी, आलोचना तथा निबंध लिखने में ख्याति प्राप्त कर रहे हैं। उपन्यासकार काजी अब्दुल वदूद का नाम ऊपर लिया जा चुका है। उन्होंने रवींद्र साहित्य पर विवेचनात्मक पुस्तक लिखने के बाद गेटे पर भी एक ग्रंथ दो खंडों में प्रकाशित किया। केंद्रीय सरकार के पूर्वकालीन वैज्ञानिक अनुसंधान मंत्री हुमायूँ कबीर बँगला के प्रतिभावान् कवि तथा अच्छे गद्यलेखक हैं। कुछ अन्य मुसलिम लेखकों के नाम ये हैं - (कवि) गुलाम मुस्तफा, अब्दुल कादिर, बंदे अली, फारुख अहमद, एहसान हवीब आदिय (गद्यलेखक) डॉ. मुहम्मद शहीदुल्ला, अवू सैयिद अयूव, मुताहर हुसेन चौधरी, श्रीमती शमसुन नहर, अबुल मंसूर अहमद, अबुल फजल, महबूबुल आलम। विभाजन के बाद यद्यपि पाकिस्तान सरकार ने प्रयत्न किया कि पूर्वी बंगाल के मुसलमान अपनी भाषा अरबी लिपि में लिखने लगें, पर इसमें सफलता नहीं मिली। मुस्लिम छात्रों तथा अन्य लोगों ने इस प्रयत्न का तथा बंगालियों पर उर्दू लादने का जोरदार विरोध किया और बंग्लादेश का उदय हुआ।

आधुनिक युग के बाद

तीस के दशक में जो कविगण आये वे बांग्ला कविता की जगत में पश्चिमी प्रभाव को पनपने का अवसर दिया और रबिन्द्रनाथ के बाद के कविता को एक नयी दिशा दी। उनमें प्रधान थे बुद्धदेब बसु, सुधीन्दृनाथ दत्त, विष्णु दे, जीवनानंद दास प्रमुख। चालिस के दशक में बामपंन्थी कवियों का बोलबला रहा जिसमें प्रधान थे बीरेन्द्रनाथ चट्टोपध्याय, सुभाष मुखोपाध्याय, कृष्ण धर प्रमुख। पचास के दशक से पत्रिका-केन्द्रित कवियों का आविर्भाव हुया, जैसे कि शतभिषा, कृत्तिबास इत्यादि। शतभिषा के आलोक सरकार, अलोक्रंजन दाशगुप्ता प्रमुखों ने नाम कमाये, जबकि कृत्तिबास के सुनील गंगोपाध्याय, शरतकुमार

मुखोपाध्याय, तारापदो राय, समरेन्द्र सेनगुप्ता नाम किये। साठ के दशक में शुरु हुए अंदोलनसमूह जो कविता का चरित्र हि बदल डाला। आंदलनों में प्रधान था भुखी पीढी (हंगरी जेनरेशन) जिसके कवि-लेखकों पर बहुत सारे आरोप लगाये गये। भूखी पीढी के सदस्यों ने समाज को ही बदलने का ऐलान कर डाला। उन लोगों के लेखन प्रक्रिया से बंगालि समाज भी खफा हो गये थे। सदस्यों के विरुद्ध मुकदमें दायर हुए एवम आखिरकार मलय रायचौधुरी को उनके कविता के चलते कारावास का दण्ड दिया गया था।

10

असमिया साहित्य

यद्यपि असमिया भाषा की उत्पत्ति 17वीं शताब्दी से मानी जाती है, किन्तु साहित्यिक अभिरुचियों का प्रदर्शन 13वीं शताब्दी में कंदलि के द्रोण पर्व (महाभारत) तथा कंदलि के रामायण से प्रारंभ हुआ। वैष्णवी आंदोलन ने प्रांतीय साहित्य को बल दिया। शंकर देव (1449-1568) ने अपनी लंबी जीवन-यात्रा में इस आंदोलन को स्वरचित काव्य, नाट्य व गीतों से जीवित रखा।

असमिया के शिष्ट और लिखित साहित्य का इतिहास पाँच कालों में विभक्त किया जाता है–

(1) वैष्णवपूर्वकाल–1200-1449 ई.
(2) वैष्णवकाल–1449-1650 ई.
(3) गद्य, बुरंजी काल–1650-1926 ई.
(4) आधुनिक काल–1926-1947 ई.
(5) स्वाधीनतोत्तर काल–1947 ई.

वैष्णवपूर्वकाल

अद्यतन उपलब्ध सामग्री के आधार पर हेम सरस्वती और हरिवर विप्र असमिया के प्रारंभिक कवि माने जा सकते हैं। हेम सरस्वती का 'प्रह्लादचरित्र' असमिया का प्रथम लिखित ग्रंथ माना जाता है। ये दोनों कवि कमतातुर (पश्चिम कामरूप) के शासक दुर्लभनारायण के आश्रित थे। एक तीसरे प्रसिद्ध कवि कविरत्न सरस्वती भी थे, जिन्होने 'जयद्रथवध' लिखा। परंतु वैष्णवपूर्वकाल के सबसे प्रसिद्ध कवि माधव कन्दली हुए, जिन्होंने राजा महामाणिक्य के आश्रय में रहकर अपनी रचनाएँ की। माधव कंदली के रामायण के अनुवाद ने विशेष ख्याति

प्राप्त की। संस्कृत शब्दसमूह को असमिया में रूपांरित करना कवि की विशेष कला थी। इस काल की अन्य फुटकर रचनाओं में कुछ गीतिकाव्य उल्लेखनीय हैं। इन रचनाओं में तत्कालीन लोकमानस विशेष रूप से प्रतिफलित हुआ। तंत्र मंत्र, मनसापूजा आदि के विधान इस वर्ग की कृतियों में अधिक चर्चित हुए हैं।

वैष्णवकाल

इस काल की पूर्ववर्ती रचनाओं में विष्णु से संबद्ध कुछ देवताओं को महत्त्व दिया गया था। परंतु आगे चलकर विष्णु की पूजा की विशेष रूप से प्रतिष्ठा हुई। स्थिति के इस परिवर्तन में असमिया के महान कवि और धर्मसुधारक शंकरदेव (1449-1568) ई. का योग बससे अधिक था। शंकरदेव की अधिकांश रचनाएँ भागवतपुराण पर आधारित हैं और उनके मत को भागवती धर्म कहा जाता है। असमिया जनजीवन और संस्कृति को उसके विशिष्ट रूप में ढालने का श्रेय शंकरदेव को ही दिया जाता है। इसलिए कुछ समीक्षक उनके व्यक्तित्त्व को केवल कवि के रूप में ही सीमित नहीं करना चाहते। वे मूलत: उन्हें धार्मिक सुधारक के रूप में मानते हैं। शंकरदेव की भक्ति के प्रमुख आश्रय थे श्रीकृष्ण। उनकी लगभग 30 रचनाएँ हैं, जिनमें से 'कीर्तनघोष' उनकी सर्वोत्कृष्ट कृति है। असमिया साहित्य के प्रसिद्ध नाट्यरूप 'अंकीया नाटक' के प्रारंभकर्ता भी शंकरदेव ही हैं। उनके नाटकों में गद्य और पद्य का बराबर मिश्रण मिलता है। इन नाटकों की भाषा पर मैथिली का प्रभाव है। 'अंकीया नाटक' के पद्यांश को 'वरगीत' कहा जाता है, जिसकी भाषा प्रमुखत: ब्रजबुलि है।

शंकरदेव के अतिरिक्त इस युग के दूसरे महत्त्वपूर्ण कवि उनके शिष्य माधवदेव हुए। उनका व्यक्तित्त्व बहुमुखी था। वे कवि होने के साथ-साथ संस्कृत के विद्वान्, नाटककार, संगीतकार तथा धर्मप्रचारक भी थे। 'नामघोषा' इनकी विशिष्ट कृति है। शंकरदेव के नाटकों में 'चोरधरा' अधिक प्रसिद्ध रचना है। इस युग के अन्य लेखकों में अनंत कंदली, श्रीधर कंदली तथा भट्टदेव विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। असमिया गद्य को स्थिरीकृत करने में भट्टदेव का ऐतिहासिक योग माना जाता है।

बुरंजी, गद्यकाल

आहोम राजाओं के असम में स्थापित हो जाने पर उनके आश्रय में रचित साहित्य की प्रेरक प्रवृत्ति धार्मिक न होकर लौकिक हो गई। राजाओं का यशवर्णन

इस काल के कवियों का एक प्रमुख कर्त्तव्य हो गया। वैसे भी अहोम राजाओं में इतिहासलेखन की परंपरा पहले से ही चली आती थी। कवियों की यशवर्णन की प्रवृत्ति को आश्रयदाता राजाओं ने इस ओर मोड़ दिया। पहले तो अहोम भाषा के इतिहास ग्रंथों (बुरंजियों) का अनुवाद असमिया में किया गया और फिर मौलिक रूप से बुरंजियों का सृजन होने लगा। 'बुरंजी' मूलत: एक टाइ शब्द है, जिसका अर्थ है 'अज्ञात कथाओं का भांडार'। इन बुरंजियों के माध्यम से असम प्रदेश के मध्ययुग का काफी व्यवस्थित इतिहास उपलब्ध है। बुरंजी साहित्य के अंतर्गत कामरूप बुरंजी, कछारी बुरंजी, आहोम बुरंजी, जयंतीय बुंरजी, बेलियार बुरंजी के नाम अपेक्षाकृत अधिक प्रसिद्ध हैं। इन बुरंजी ग्रंथों के अतिरिक्त राजवंशों की विस्तृत वंशावलियाँ भी इस काल में हुई। उपयोगी साहित्य की दृष्टि से इस युग में ज्योतिष, गणित, चिकित्सा आदि विज्ञान संबंधी ग्रंथों का सृजन हुआ। कला तथा नृत्य विषयक पुस्तकें भी लिखी गईं। इस समस्त बहुमुखी साहित्यसृजन के मूल में राज्याश्रय द्वारा पोषित धर्मनिरपेक्षता की प्रवृत्ति स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है।

इस काल में हिंदी के दो सूफी काव्यों (कुतुबन की 'मृगावती' तथा मंझन की 'मधुमालती') के कथानकों के आधार पर दो असमिया काव्य लिखे गए। पर मूलत: यह युग गद्य के विकास का है।

आधुनिक काल

अन्य अनेक प्रांतीय भाषाओं के साहित्य के समान असमिया में भी आधुनिक काल का प्रारंभ अंग्रेजी शासन के साथ जोड़ा जाता है। 1826 ई. असम में अंग्रेजी शासन के प्रारंभ की तिथि है। इस युग में स्वदेशी भावनओं के दमन तथा सामाजिक विषमता ने मुख्य रूप से लेखकों को प्रेरणा दी। इधर 1838 ई. से ही विदेशी मिशनरियों ने भी अपना कार्य प्रारंभ किया और जनता में धर्मप्रचार का माध्यम असमिया को ही बनाया। फलत: असमिया भाषा के विकास में इन मिशनरियों द्वारा परिचालित व्यवस्थित ढंग के मुद्रण तथा प्रकाशन से भी एक स्तर पर सहायता मिली। अंग्रेजी शासन के युग में अंग्रेजी और यूरोपीय साहित्य के अध्ययन मनन से असमिया के लेखक प्रभावित हुए। कुछ पाश्चात्य आदर्श बंगला के माध्यम से भी अपनाए गए। इस युग के प्रारंभिक लेखकों में आनंदराम टेकियाल फुकन का नाम सबसे महत्त्वपूर्ण है। अन्य लेखकों में हेमचंद्र बरुआ, गुणाभिराम बरुआ तथा सत्यनाश बोड़ा के नाम उल्लेखनीय हैं।

असमिया साहित्य का मूल रूप प्रमुखत: तीन लेखकों द्वारा निर्मित हुआ। ये लेखक थे चंद्रकुमार अग्रवाल (1858-1938), लक्ष्मीनाथ बेजबरुआ (1858-1938) तथा हेमचंद्र गोस्वामी (1872-1928)। कलकत्ता में रहकर अध्ययन करते समय इन तीन मित्रों ने 1889 में 'जोनाकी' (जुगुनू) नामक मासिक पत्र की स्थापना की। इस पत्रिका को केंद्र बनाकर धीरे-धीरे एक साहित्यिक समुदाय उठ खड़ा हुआ, जिसे बाद में जोनाकी समूह कहा गया। इस वर्ग में अधिकांश लेखक अंग्रेजी रोमांटिसिज्म से प्रभावित थे। 20वीं सदी के प्रारंभ के इन लेखकों में लक्ष्मीनाथ बेजबरुआ बहुमुखी प्रतिभासंपन्न थे। उनका 'असमिया साहित्येर चानेकी' नामक संकलन विशेष प्रसिद्ध है। असमिया साहित्य में उन्होंने कहानी तथा ललित निबंध के बीच के एक सहित्य रूप को अधिक प्रचलित किया। बेजबरुआ की हास्यरस की रचनाओं को काफी लोकप्रियता मिली। इसीलिए उसे 'रसराज' की उपाधि दी गई। इस युग में अन्य कवियों में कमलाकांत भट्टाचार्य, रघुनाथ चौधरी, नलिनीबाला देवी, अंबिकागिरि रायचौधुरी, फुकन आदि का कृतित्त्व महत्त्वपूर्ण माना जाता है। मफिजुद्दीन अहमद की कविताएँ सूफी धर्मसाधना से प्रेरित हैं।

गद्य, विशेष रूप से कथासाहित्य, के क्षेत्र में 19वीं शताब्दी के अंत में दो लेखक पद्मनाथ गोसाई बरुआ तथा रजनीकांत बारदोलाई अपने ऐतिहासिक उपन्यासों तथा नाटकों के लिए महत्त्वपूर्ण समझे जाते हैं। जोनाकी समुदाय के समानांतर जिन गद्यलेखकों ने साहित्यसृजन किया उनमें से वेणुधर राजखोवा तथा शरच्चंद्र गोस्वामी के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। शरतचंड गोस्वामी की प्रतिभा वैसे तो बहुमुखी थी, पर उनकी ख्याति प्रमुखत: कहानियों को लेकर है। कहानी के क्षेत्र में लक्ष्मीधर शर्मा, बीना बरुआ, कृष्ण भुयान आदि ने प्रणय संबंधी नए अभिप्रायों के कुछ प्रयोग किए। लक्ष्मीनाथ फुकन अपनी हास्यरस की कहानियों के लिए स्मरणीय हैं। कथासाहित्य के अतिरिक्त नाटक के क्षेत्र में अतुलचंद्र हजारिका तथा ज्योतिप्रसाद अग्रवाल का कार्य अधिक महत्त्वपूर्ण है। समीक्षा तथा शोध की दृष्टि से अंबिकानाथ बरा, वाणीकांत काकती, कालीराम मेधी, विरंचि बरुआ तथा डिंबेश्वर नियोग का कृतित्त्व उल्लेखनीय है।

असमिया साहित्य के आधुनिक काल में पत्र पत्रिकाओं का माध्यम भी काफी प्रचलित हुआ। इनमें से 'अरुणोदय', 'जोनाकी', 'बोली', 'आवाहन', 'जयंती', तथा 'पछोवा' ने विभिन्न क्षेत्रों में काफी उपयोगी कार्य किया है। नए प्रकार का साहित्यसृजन प्रमुखत: 'रामधेनु' को केंद्र बनाकर हुआ है।

स्वाधीनतोत्तरकाल

इस युग में पाश्चात्य प्रभाव अधिक स्वस्थ तथा संतुलित रूप में आए हैं। इलियट तथा उनके सहयोगी अंग्रेजी कवियों से नए असमिया लेखकों को प्रमुखत: प्रेरणा मिली है। केवल कविता में ही नहीं, कथा साहित्य तथा नाटक में भी इन नए प्रयोगों की प्रवृत्ति देखी जा सकती है। समाजशास्त्रीय तथा मनोवैज्ञानिक दोनों ही प्रकार की समस्याओं का नए लेखकों ने उठाया है। उनके शिल्प संबंधी प्रयोग भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं।

प्राचीन असम की साहित्य-रुचि-संपन्नता का पता तत्कालीन ताम्रपत्रों से चलता है। इसी प्रकार वहाँ के पुस्तकोत्पादन के संबंध में भी एक प्राचीन उल्लेख मिलता है, जिसके अनुसार कुमार भास्करवर्मन (ईसा की सातवीं शताब्दी) ने अपने मित्र कन्नौज सम्राट् हर्षवर्धन को सुंदर लिपि में लिखी हुई अनेक पुस्तकं भेंट की थीं। इन पुस्तकों में से एक संभवत: तत्कालीन असम में प्रचलित कहावतों तथा मुहावरों का संकलन था।

बहुत प्राचीन काल से ही असम में संगीतप्रियता की परंपरा चलती आ रही है। इसके प्रमाणस्वरूप आधुनिक असम में अलिखित और अज्ञात लेखकों द्वारा प्रस्तुत वस्तुत: अनेकानेक लोकगीत मिलते हैं, जो एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक मौखिक परंपरा से सुरक्षित रह सके हैं। ये लोगगीत धार्मिक अवसरों, अचारों तथा ऋतुओं के परितर्वनों से संबद्ध हैं। कुछ लोकगाथाओं में राजकुमार नायकों के आख्यान भी मिलते हैं। शिष्ट साहित्य के उद्‌भव के पूर्व इस काल में दार्शनिक डाक का महत्त्व असाधारण है। उसके कथनों को वेदवाक्य संज्ञा दी गई है। डाकवचनों की यह परंपरा बंगाल तथा बिहार तक मिलती है। असम के प्राय: प्रत्येक परिवार में कुछ समय पूर्व तक इन डाकवचनों का एक हस्तलिखित संकलन रहता था।

असम के प्राचीन नाम 'कामरूप' से प्रकट होता है कि वहाँ बहुत प्राचीन काल से तंत्र मंत्र की परंपरा रही है। इन गुह्यचारों से संबद्ध अनेक प्रकार के मंत्र मिलते हैं, जिनसे भाषा तथा साहित्य विषयक प्रारंभिक अवस्था का कुछ परिचय मिलता है। 'चर्यापद' के लेखक सिद्धों में से कई का कामरूप से घनिष्ट संबंध बताया जाता है, जो इस प्रदेश की तांत्रिक परंपरा को देखते हुए काफी स्वाभाविक जान पड़ता है। इस प्रकार चर्यापदों के समय से लेकर 13वीं शताब्दी के बीच का मौखिक साहित्य या तो जनप्रिय लोकगीतों और लोकगाथाओं का है या नीतिवचनों तथा मंत्रों का। यह साहित्य बहुत बाद में लिपिबद्ध हुआ।

आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं की शृंखला में पूर्वी सीमा पर अवस्थित असम की भाषा को असमी, असमिया अथवा आसामी कहा जाता है। असमिया भारत के असम प्रांत की आधिकारिक भाषा तथा असम में बोली जाने वाली प्रमुख भाषा है। इसको बोलने वालों की संख्या डेढ़ करोड़ से अधिक है।

भाषाई परिवार की दृष्टि से इसका संबंध आर्य भाषा परिवार से है और बांग्ला, मैथिली, उड़िया और नेपाली से इसका निकट का संबंध है। गियर्सन के वर्गीकरण की दृष्टि से यह बाहरी उपशाखा के पूर्वी समुदाय की भाषा है, पर सुनीतिकुमार चटर्जी के वर्गीकरण में प्राच्य समुदाय में इसका स्थान है। उड़िया तथा बंगला की भांति असमी की भी उत्पत्ति प्राकृत तथा अपभ्रंश से भी हुई है।

यद्यपि असमिया भाषा की उत्पत्ति सत्रहवीं शताब्दी से मानी जाती है, किन्तु साहित्यिक अभिरुचियों का प्रदर्शन तेरहवीं शताब्दी में रुद्र कंदलि के द्रोण पर्व (महाभारत) तथा माधव कंदलि के रामायण से प्रारंभ हुआ। वैष्णवी आंदोलन ने प्रांतीय साहित्य को बल दिया। शंकर देव (1449-1568) ने अपनी लंबी जीवन-यात्र में इस आंदोलन को स्वरचित काव्य, नाट्य व गीतों से जीवित रखा।

सीमा की दृष्टि से असमिया क्षेत्र के पश्चिम में बंगला है। अन्य दिशाओं में कई विभिन्न परिवारों की भाषाएँ बोली जाती हैं। इनमें से तिब्बती, बर्मी तथा खासी प्रमुख हैं। इन सीमावर्ती भाषाओं का गहरा प्रभाव असमिया की मूल प्रकृति में देखा जा सकता है। अपने प्रदेश में भी असमिया एकमात्र बोली नहीं हैं। यह प्रमुखत: मैदानों की भाषा है।

असमीया एवं बंगला

बहुत दिनों तक असमिया को बंगला की एक उपबोली सिद्ध करने का उपक्रम होता रहा है। असमीया की तुलना में बंगला भाषा और साहित्य के बहुमुखी प्रसार को देखकर ही लोग इस प्रकार की धारण बनाते रहे हैं। परंतु भाषावैज्ञानिक दृष्टि से बंगला और असमीया का समानांतर विकास आसानी से देखा जा सकता है। मागधी अपभ्रंश के एक ही स्रोत से नि:सृत होने के कारण दोनों में समानताएँ हो सकती हैं, पर उनके आधार पर एक दूसरी की बोली सिद्ध नहीं किया जा सकता।

क्षेत्रविस्तार एवं सीमाएँ

क्षेत्रीय विस्तार की दृष्टि से असमिया के कई उपरूप मिलते हैं। इनमें से दो मुख्य हैं - पूर्वी रूप और पश्चिमी रूप। साहित्यिक प्रयोग की दृष्टि

से पूर्वी रूप को ही मानक माना जाता है। पूर्वी की अपेक्षा पश्चिमी रूप में बोलीगत विभिन्नताएँ अधिक हैं। असमिया के इन दो मुख्य रूपों में ध्वनि, व्याकरण तथा शब्दसमूह, इन तीनों ही दृष्टियों से अंतर मिलते हैं। असमिया के शब्दसमूह में संस्कृत तत्सम, तद्भव तथा देशज के अतिरिक्त विदेशी भाषाओं के शब्द भी मिलते हैं। अनार्य भाषापरिवारों से गृहीत शब्दों की संख्या भी कम नहीं है। भाषा में सामान्यतः तद्भव शब्दों की प्रधानता है। हिंदी उर्दू के माध्यम से फारसी, अरबी तथा पुर्तगाली और कुछ अन्य यूरोपीय भाषाओं के भी शब्द आ गए हैं।

शब्दसमूह

भारतीय आर्यभाषाओं की शृंखला में पूर्वी सीमा पर स्थित होने के कारण असमिया कई अनार्य भाषापरिवारों से घिरी हुई है। इस स्तर पर सीमावर्ती भाषा होने के कारण उसके शब्दसमूह में अनार्य भाषाओं के कई स्रोतों के लिए हुए शब्द मिलते हैं। इन स्रोतों में से तीन अपेक्षाकृत अधिक मुख्य हैं :

(1) ऑस्ट्रो-एशियाटिक -
    (अ) खासी, (आ) कोलारी, (इ) मलायन
(2) तिब्बती-बर्मी-बोडो
(3) थाई-अहोम

शब्दसमूह की इस मिश्रित स्थिति के प्रसंग में यह स्पष्ट कर देना उचित होगा कि खासी, बोडो तथा थाई तत्त्व तो असमिया में उधार लिए गए हैं, पर मलायन और कोलारी तत्त्वों का मिश्रण इन भाषाओं के मूलाधार के पास्परिक मिश्रण के फलस्वरूप है। अनार्य भाषाओं के प्रभाव को असम के अनेक स्थाननामों में भी देखा जा सकता है। ऑस्ट्रिक, बोडो तथा अहोम के बहुत से स्थाननाम ग्रामों, नगरों तथा नदियों के नामकरण की पृष्ठभूमि में मिलते हैं। अहोम के स्थाननाम प्रमुखतः नदियों को दिए गए नामों में हैं।

लिपि

असमिया लिपि मूलतः ब्राह्मी का ही एक विकसित रूप है। बंगला से उसकी निकट समानता है। लिपि का प्राचीनतम उपलब्ध रूप भास्करवर्मन का 610 ई. का ताम्रपत्र है। परंतु उसके बाद से आधुनिक रूप तक लिपि में 'नागरी' के माध्यम से कई प्रकार के परिवर्तन हुए हैं।

इतिहास

असमिया भाषा का व्यवस्थित रूप 13वीं तथा 14वीं शताब्दी से मिलने पर भी उसका पूर्वरूप बौद्ध सिद्धों के 'चर्यापद' में देखा जा सकता है। 'चर्यापद' का समय विद्वानों ने ईसवी सन् 600 से 1000 के बीच स्थिर किया है। इन दोहों के लेखक सिद्धों में से कुछ का तो कामरूप प्रदेश से घनिष्ट संबंध था। 'चर्यापद' के समय से 12वीं शताब्दी तक असमी भाषा में कई प्रकार के मौखिक साहित्य का सृजन हुआ था। मणिकोंवर-फुलकोंवर-गीत, डाकवचन, तंत्र मंत्र आदि इस मौखिक साहिय के कुछ रूप हैं।

असमिया भाषा का पूर्ववर्ती, अपभ्रंशमिश्रित बोली से भिन्न रूप प्रायः 18वीं शताब्दी से स्पष्ट होता है। भाषागत विशेषताओं को ध्यान में रखते हुए असमिया के विकास के तीन काल माने जा सकते हैं :

प्रारंभिक असमिया

14वीं शताब्दी से 16वीं शताब्दी के अंत तक। इस काल को फिर दो युगों में विभक्त किया जा सकता है–(अ) वैष्णव-पूर्वष्युग तथा (आ) वैष्णव। इस युग के सभी लेखकों में भाषा का अपना स्वाभाविक रूप निखर आया है, यद्यपि कुछ प्राचीन प्रभावों से वह सर्वथा मुक्त नहीं हो सकी है। व्याकरण की दृष्टि से भाषा में पर्याप्त एकरूपता नहीं मिलती। परंतु असमिया के प्रथम महत्त्वूपर्ण लेखक शंकरदेव (जन्म-1449) की भाषा में ये त्रुटियाँ नहीं मिलती। वैष्णव-पूर्व-युग की भाषा की अव्यवस्था यहाँ समाप्त हो जाती है। शंकरदेव की रचनाओं में ब्रजबुलि प्रयोगों का बाहुल्य है।

मध्य असमिया

17वीं शताब्दी से 19वीं शताब्दी के प्रारंभ तक। इस युग में अहोम राजाओं के दरबार की गद्यभाषा का रूप प्रधान है। इन गद्यकर्ताओं को बुरंजी कहा गया है। बुरंजी साहित्य में इतिहास लेखन की प्रारंभिक स्थिति के दर्शन होते हैं। प्रवृत्ति की दृष्टि से यह पूर्ववर्ती धार्मिक साहित्य से भिन्न है। बुरंजियों की भाषा आधुनिक रूप के अधिक निकट है।

आधुनिक असमीया

19वीं शताब्दी के प्रारंभ से। 1819 ई. में अमेरिका बप्तिस्त पादरियों द्वारा प्रकाशित असमीया गद्य में बाइबिल के अनुवाद से आधुनिक असमीया का काल

प्रारंभ होता है। मिशन का केंद्र पूर्वी आसाम में होने के कारण उसकी भाषा में पूर्वी आसाम की बोली को ही आधार माना गया। 1846 ई. में मिशन द्वारा एक मासिक पत्र 'अरुणोदय' प्रकाशित किया गया। 1848 में असमीया का प्रथम व्याकरण छपा और 1867 में प्रथम असमीया अंग्रेजी शब्दकोश।

असमीया साहित्य

असमीया के शिष्ट और लिखित साहित्य का इतिहास पाँच कालों में विभक्त किया जाता है–

(1) वैष्णवपूर्वकाल–1200-1449 ई.,
(2) वैष्णवकाल–1449-1650 ई.,
(3) गद्य, बुरंजी काल–1650-1926 ई.,
(4) आधुनिक काल–1026-1947 ई.,
(5) स्वाधीनतोत्तरकाल–1947 ई.-।

असमीया साहित्य की 16वी सदी से 19वीं सदी तक की काव्य धारा को छः भागों में बाँट सकते हैं-

महाकाव्यों व पुराणों के अनुवाद
काव्य या पुराणों की कहानियाँ
गीत
निरपेक्ष व उपयोगितावादी काव्य
जीवनियों पर आधारित काव्य

धार्मिक कथा काव्य या संग्रह

असमीया की पारंपरिक कविता उच्चवर्ग तक ही सीमित थी। भट्टदेव (1558-1638) ने असमिया गद्य साहित्य को सुगठित रूप प्रदान किया। दामोदरदेव ने प्रमुख जीवनियाँ लिखीं। पुरुषोत्तम ठाकुर ने व्याकरण पर काम किया। अठारहवी शती के तीन दशक तक साहित्य में विशेष परिवर्तन दिखाई नहीं दिए। उसके बाद चालीस वर्षों तक असमिया साहित्य पर बांग्ला का वर्चस्व बना रहा। असमिया को जीवन प्रदान करने में चन्द्र कुमार अग्रवाल (1858-1938), लक्ष्मीनाथ बेजबरुवा (1867-1838), व हेमचन्द्र गोस्वामी (1872-1928) का योगदान रहा। असमीया में छायावादी आंदोलन छेड़ने वाली मासिक पत्रिका जोनाकी का प्रारंभ इन्हीं लोगों ने किया था। उन्नीसवीं शताब्दी के उपन्यासकार पद्मनाभ गोहाबिरुवा और रजनीकान्त बरदलै ने ऐतिहासिक उपन्यास लिखे।

सामाजिक उपन्यास के क्षेत्र में देवाचन्द्र तालुकदार व बीना बरुवा का नाम प्रमुखता से आता है। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद बीरेन्द्र कुमार भट्टाचार्य को मृत्यंजय उपन्यास के लिए ज्ञानपीठ पुरस्कार से सम्मानित किया गया। इस भाषा में क्षेत्रीय व जीवनी रूप में भी बहुत से उपन्यास लिखे गए हैं। 40वे व 50वें दशक की कविताएँ व गद्य मार्क्सवादी विचारधारा से भी प्रभावित दिखाई देती है।

11

मराठी साहित्य

मराठी साहित्य महाराष्ट्र के जीवन का अत्यंत संपन्न तथा सुदृढ़ उपांग है। मराठी साहित्य की प्रारंभिक रचनाएँ यद्यपि 12वीं शती से उपलब्ध हैं तथापि मराठी भाषा की उत्पत्ति इसके लगभग 300 सौ वर्ष पूर्व अवश्य हो चुकी रही होगी। मैसूर प्रदेश के श्रवण बेलगोला नामक स्थान की गोमटेश्वर प्रतिमा के नीचेवाले भाग पर लिखी हुई 'श्री चामुंड राजे करवियले, गंगराजे सुत्ताले करविलय' पंक्ति मराठी भाषा की सर्वप्रथम ज्ञात पंक्ति है। यह संभवत: शक 905 (सन् 983) में उत्कीर्ण की गई होगी। यहाँ से यादवों के काल तक के लगभग 75 शिलालेख आज तक प्राप्त हुए हैं। इनकी भाषा का संपूर्ण या कुछ भाग मराठी है। मराठी भाषा का निर्माण प्रमुखतया, महाराष्ट्री प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं से होने के कारण संस्कृत की अतुलनीय भाषासंपत्ति का उत्तराधिकार भी इसे मुख्य रूप से प्राप्त हुआ है। प्राकृत और अपभ्रंश भाषा को आत्मसात् कर मराठी ने 12वीं शती से अपना अलग अस्तित्त्व स्थापित करना शुरू किया। इसकी लिपि देवनागरी है।

ऐतिहासिक अनुसंधान करने वाले अनेक विद्वानों ने यह मान लिया है कि मुकुंदराज मराठी साहित्य के आदि कवि हैं। इनका समय 1128 से 1200 तक माना जाता है। मुकुंदराज के दो ग्रंथ 'विवेकसिंधु' और 'परमामृत' है, जो पूर्ण आध्यात्मिक विषय पर हैं। मुकुंदराज के निवास स्थान के संबंध में विद्वानों का एक मत नहीं है, फिर भी बीड जिले के अंबेजोगाई नामक स्थान पर बनी इनकी समाधि से वे मराठवाडा के निवासी प्रतीत होते हैं। वे नाथपंथीय थे। उनके साहित्य से इस पंथ के संकेत प्राप्त होते हैं।

ज्ञानदेव तथा नामदेव

मराठी भाषा के अद्वितीय साहित्यभांडार का निर्माण करनेवाले ज्ञानदेव को ही मराठी का सर्वश्रेष्ठ कवि माना जाता है। 15 वर्ष की अवस्था में लिखी गई उनकी रचना ज्ञानेश्वरी अत्यंत प्रसिद्ध है। उनके ग्रंथ अमृतानुभव तथा चांगदेव पासष्टी, वेदांत चर्चा से ओतप्रोत हैं। ज्ञानदेव का श्रेष्ठत्व उनके अलौकिक ग्रंथनिर्माण के समान ही उनकी भक्तिपंथ की प्रेरणा में भी विद्यमान है। इस कार्य में उन्हें अपने समकालीन संत नामदेव की अमूल्य सहायता प्राप्त हुई है। ज्ञान और भक्ति के साकार स्वरूप इन दोनों संतों ने महाराष्ट्र के पारमार्थिक जीवन की नई परंपरा को सुदृढ़ स्थान प्राप्त करा दिया। इनके भक्तिप्रधान साहित्य तथा दिव्य जीवन के कारण महाराष्ट्र के सभी वर्गों के समाज में भगवद्भक्तों का पारमार्थिक लोकराज्य स्थापित होने का आभास मिला। चोखा मेला, गोरा कुम्हार, नरहरि सोनार इत्यादि संत इसी परंपरा के हैं।

इसी समय चक्रधर द्वारा स्थापित महानुभावीय ग्रंथकारों की एक अलग शृंखला का आरंभ हुआ। चक्रधर के पट्ट शिष्य नागदेवाचार्य ने महानुभाव पंथ को संघटित रूप देकर पंथ की नींव सुदृढ़ की। इन्हीं की प्रेरणा से महेंद्र भट, केशवराज सूरी आदि लोगों ने ग्रंथरचना की। चक्रधर जी के संस्मरण को बतलानेवाला महेंद्र भट का 'लीलाचरित्र' इस पंथ का आद्य ग्रंथ है। इसके अतिरिक्त इनके द्वारा लिखित स्मृतिस्थल, केशवराज सूरी का मूर्तिप्रकाश तथा दृष्टांतपाठ, दामोदर पंडित का वत्सहरण, नरेंद्र का रुक्मिणी स्वयंवर, भास्कर भट का शिशुपालवध और उद्धवगीता आदि महानुभाव पंथ के प्रमुख ग्रंथ हैं। शिशुपालवध तथा रुक्मिणी स्वयंवर ग्रंथ काव्य की दृष्टि से अत्यंत सरस एवं महत्त्वपूर्ण हैं।

अब ज्ञानदेव और नामदेव के समय की राज्यस्थिति बदल चुकी थी। यादवों का राज्य नष्ट होकर उसके स्थान पर मुसलमानों का राज्य स्थापित हो जाने के कारण निराशा की गहरी छाया छाई हुई थी। उसे दूरकर परमार्थ मार्ग को फिर से प्रकाशमान बनाने का कार्य मराठवाडा के अंतर्गत पैठण क्षेत्र के निवासी संत एकनाथ ने किया। इनके ग्रंथ विशद तथा साहित्यिक गुणों से संपन्न है। इनमें वेदांत ग्रंथ, आख्यान, कविता, स्फुट प्रकरण, लोकगीत, रामायण कथा इत्यादि नाना प्रकार के साहित्य का समावेश है। एकनाथी भागवत, भावार्थ रामायण, रुक्मिणी स्वयंवर, भारुड आदि ग्रंथ मराठी में सर्वमान्य हैं। एकनाथ के ही समय में प्रचुर मात्र में

साहित्यनिर्माण करनेवाले दासोपंत नामक कवि हुए। एकनाथ के पौत्र (नाती) मुक्तेश्वर के 'कलाविलास' को मराठी भाषा में उच्च स्थान प्राप्त है। इनके लिखे महाभारत के पाँचों पर्व मानो नवरसों से सुसज्जित मंदाकिनी ही हैं।

तुकाराम तथा रामदास

सन्त तुकाराम

17वीं शती में तुकाराम तथा रामदास ने एक ही समय धर्मजागृति का व्यापक कार्य किया। ज्ञानदेवादि वारकरी संप्रदाय के अधिकारियों द्वारा निर्मित धर्ममंदिर पर तुकाराम के कार्य ने मानों कलश बैठाया। पोथी पंडितों के अनुभव शून्य वक्तव्यों तथा कर्मकांड के नाम पर दिखलाए जाने वाले ढोंग का भंडाफोड़ करने में तुकाराम की वाणी को अद्‌भूत ओज प्राप्त हुआ। फिर भी जिस साधक अवस्था से उन्हें जाना पड़ा उसका उनके द्वारा किया हुआ वर्णन काव्य का उत्कृष्ट नमूना है।

रामदास का साहित्य परमार्थ के साथ साथ प्रापंचिक सावधानता का तथा समाज संघटन का उपांग है।के गुरु होने के कारण उनके चरित्र की उज्वलता बढ़ गई। फिर भी उनके द्वारा प्रयत्नवाद, लोकसंग्रह, दुष्टों के दलन इत्यादि के संबंध में दिए गए बोध के कारण उन्हें स्वयं ही वैशिष्ट्य प्राप्त हुआ है। दास बोध, मनाचे श्लोक, करुणाष्टक आदि उनके ग्रंथ परमार्थ के विचार से परिपूर्ण हैं। उनके कतिपय अध्यायों के विषय राजनीतिक विचारों से प्रभावित हैं।

तुकाराम रामदास के कालखंड में वामन पंडित, रघुनाथ पंडित, सामराज, नागेश, तथा विट्‌ठल आदि शिवकालीन आख्यानकर्ता कवियों की एक लंबी परंपरा हो गई। शब्दचमत्कार, अर्थचमत्कार, नाद माधुर्य और वृत्तवैचिय इत्यादि इन आख्यानों की विशेषताएँ हैं। वामन नामक पंडित की यथार्थ दीपिका गीताटीका उनकी विद्वत्ता के कारण अर्थगंभीर व तत्त्वांगप्रचुर हो गई है। स्वप्न में तुकाराम का उपदेश प्राप्त कर लेनेवाले महीपति प्राचीन मराठी के विख्यात संत चरित्रकार हो गए हैं। कृष्णदयार्णव का 'हरिवरदां' तथा श्रीधर कवि के हरिविजय, रामविजय, आदि ग्रंथ सुबोध व रसपूर्ण होने के कारण आबाल वृद्धों को बहुत पंसद आए। इन परमार्थप्रवृत्त पंडितों की परंपरा में मोरोपंत का विशिष्ट स्थान है। इनके रचित आर्या भारत, 108 रामायण तथा सैकड़ों फुटकर काव्य रचनाएँ भाषाप्रभुत्व एवं सुरस वर्णनशैली के कारण विद्वन्मान्य हुई हैं।

पेशवाओं के समय में 'शाहिरी' (राजाश्रित) कवियों ने मराठी काव्य की अलग ही रूप रंग प्रदान किया। रामजोशी, प्रभाकर होनाजी बाला इत्यादि कवियों ने संत कवियों के अनुसार परमार्थ पर काव्यरचना न करते हुए समकालीन इतिहास सामग्री ग्रहण कर वीरसपूर्ण काव्य का निर्माण किया। इन कवियों द्वारा रचित 'पोवाडा' (पँवाडा, कीर्तिकाव्य) साहित्य महाराष्ट्र के इतिहास का ओजस्वी अंग है। इन्हीं राजकवियों के लावणी साहित्य में स्त्रीपुरुषों केश्रृंगार का भव्य वर्णन है। यद्यपि इनमें से कितनों ने ही वैराग्य पर भी 'लावणी' साहित्य का निर्माण किया है, फिर भी इनका वैशिष्ट्य पोवाड़े तथा श्रृंगारिक लावणियों में ही व्यक्त हुआ है।

बखर साहित्य

प्राचीन मराठी साहित्य प्रधानत: पद्यमय होने के कारण उसमें गद्य का भाग बहुत छोटा होना स्वाभाविक है। इसमें बखर साहित्य ऐतिहासिक दृष्टि से पूर्णतया साधार न होने पर भी उपेक्षणीय नहीं। कृष्णाजी शामराव की लिखी भाऊ साहेब की बखर, कृष्णाजी अनंत सभासद लिखित शिव छत्रपति की बखर, सोवनी द्वारा लिखी पेशवाओं की बखर इत्यादि बखरें प्राचीन मराठी गद्य के उत्कृष्ट नमूने हैं। इसी प्रकार ऐतिहासिक कालखंड के राजपुरुषों के जो हजारों पत्र प्रकाशित हुए हैं, उनमें भी अनेक साहित्यिक गुणों का मनोरम दर्शन होता है।

अंग्रेजों के पूर्वकालीन साहित्य की सीमा यहाँ समाप्त होती है और एक नए युग का प्रारंभ होता है। इस समय के साहित्य की प्रेरणा प्राय: धर्मजीवन के लिये ही थी, अत: इस दीर्घ कालखंड में निर्मित साहित्य अत्यंत विशद होने पर भी अधिकांश एक ही सा है। काव्यों के विषय, आध्यात्मिक विचार, पौराणिक कथाएँ तथा ऐसी ही अन्य बातें थीं जो थोड़े से हेरफेर के साथ पुन: पुन: आई सी मालूम होती हैं। समय के हेरफेर से तथा व्यक्ति के बदलने से वर्णन की पद्धति बदली परंतु साहित्य में एक ही परमार्थ प्रवाह बराबर बहता रहा।

नए युग का आरंभ

अंग्रेजों के शासन काल से ही महाराष्ट्र के नवयुवकों में अपनी निश्चित सीमा से कुछ दूर जाने के प्रयत्न चल रहे थे। मुद्रणकला का प्रचार होने से साहित्य पढ़ने वाले वर्ग की सर्वत्र वृद्धि होने लगी, अत: उनकी संतुष्टि के लिये साहित्यिक भी नवीन साहित्य क्षेत्रों में प्रवेश करने लगे। 1857 में बाबा पदमजी

ने 'यमुनापर्यटन' नामक प्रथम उपन्यास लिखकर इस नवीन साहित्य प्रकार का शुभारंभ किया। इसी तरह विदृ जदृ कीर्तने के 1861 में लिखे 'थोरले माधवराव पेशवे' ऐतिहासिक नाटक के कारण नाट्य साहित्य में नए युग का सूत्रपात हुआ। क्रमशः निबंध, चरित्र, व्याकरण, कोश, धर्मनीति तत्त्वज्ञान, प्रवासवर्णन, इत्यादि अनेक विभागों में साहित्यनिर्माण होने लगा। अंग्रेजी तथा संस्कृत साहित्य के ललित और शास्त्रीय ग्रंथों के मराठी अनुवाद बड़ी संख्या में होने लगे। कृष्ण शास्त्री चिपलूणकर, परशुराम तात्या गोडबोले, लोकहितवादी देशमुख, दादोबा पांडुरंग आदि बहुश्रुत व्यक्तियों ने अनेक विषयों पर ग्रंथरचना कर मराठी वाग्मय को विकास के क्षेत्र में सभी ओर से नया मोड़ दिया। इस समय के विविध ज्ञानविस्तार, ज्ञानप्रकाश, ज्ञानसंग्रह, दिग्दर्शन आदि नियमित पात्रों ने भी ज्ञान का पौसरा चलाकर मानों नई पीढ़ियों की साहित्यिक पिपासा शांत करने में हाथ बँटाया।

1874 में विष्णु शास्त्री चिपलूणकर द्वारा शुरू की गई निबंधमाला के कारण मराठी साहित्य में ही नहीं अपितु महाराष्ट्र की विचारपरंपरा में भी क्रांति होकर नए युग की प्रतिष्ठापना हुई। नव सुशिक्षित वर्ग में अपना देश, अपनी भाषा, अपनी संस्कृति आदि के संबंध में स्वाभिमान जाग्रत हुआ। अंग्रेजी साहित्य के वैशिष्ट्य को आत्मसात् करते हुए वह ऐसे साहित्य के लिये प्रवृत्त हुआ, जिससे भारतीय संस्कृति के भविष्य का पोषण होता।

आधुनिक काल

1874-1929

1855 में लिखे तृतीय रत्न नाटक जिसे महात्मा फूले ने लिखा था। उसकी चर्चा न के बराबर होती है। आपटे ने ऐतिहासिक उपन्यासों द्वारा भूतकालीन घटनाओं को बड़े ही सुंदर ढंग से चित्रित किया, तथा सामाजिक उपन्यासों द्वारा स्त्रियों के दुःखी जीवन का हृदयद्रावक चित्र भी खींचा। श्री अण्णा साहेब किर्लोस्कर ने 1880 में शाकुंतल नाटक लिखकर आधुनिक मराठी रंगभूमि की नींव डाली। इन्हीं की परंपरा में गोदृ दृढ़ देवल ने सबसे पहले प्रभावोत्पादक नाटक लिखकर नाट्य साहित्य को नई दिशा प्रदान की। 1885 से केशवसुत नामक कवि ने काव्य क्षेत्र में नए युग की स्थापना की। ऐतिहासिक सुख में विश्वास, अकृत्रिम प्रेम तथा आत्मनिष्ठा इत्यादि गुण इन कविताओं का वैशिष्ट्य

रहा। इनके बाद तिलक, बीदृ गोविदाग्रज, बालकवि चंद्रशेखर, तांबे इत्यादि कवियों ने मराठी कविताओं का सौंदर्य की सामर्थ्य और अधिक बढ़ाया। सावरकर तथा गोविंद ने राष्ट्रीय भावनाओं का उद्दीपन करनेवाली कविताएँ लिखीं। इतिहासाचार्य राजवाडे ने मराठी इतिहास के संशोधन की परंपरा का निर्माण किया। खरेशास्त्री, साने, पारनीस आदि इतिहासज्ञों ने इतिहालेखन के साधनों की महत्त्वपूर्ण खोज करने का प्रयत्न किया। लोकमान्य बाल गंगा जी तिलक की ओजस्वी विचारधारा के आधार पर खाडिलकर ने उत्कृष्ट पौराणिक एवं ऐतिहासिक नाटकों का निर्माण किया। इसी समय रामगणेश गडकरी ने अपनी लोकोत्तर प्रतिभा से करुण एवं हास्य रस का उत्तम चित्रण किया। श्रीकृष्ण कोल्हाटकर ने अपने हास्यपूर्ण लेखों द्वारा सामाजिक आचार विचार में दिखलाई पड़ने वाली त्रुटियों को सर्वमान्य जनता के सामने ला रखा। महात्मा फूले, लोकमान्य तिलक, आगरकर, परांजपे, नरसिंह, चिंतामणि केलकर आदि प्रसिद्ध लेखक इसी समय देश में विचार जाग्रति का महान् कार्य कर रहे थे। लोकरंजन की अपेक्षा विविध विषयों के ज्ञानभंडार की पूर्ति को अधिक महत्त्वपूर्ण मानक साहित्य निर्माण का कार्य किया गया।

1920-1945

इसके बाद की कालावधि में लोकरंजन को अधिक महत्त्व प्राप्त हुआ। प्रमुख आशय के साथ साथ उद्देश्य की अभिव्यक्ति का भी विचार होने लगा। फिर भी यह नहीं भुलाया गया कि साहित्य ही समाज के मन पर विशिष्ट संस्कार डालने वाला प्रभावी साधन है। डादृ केतकर, वादृ मदृ जोशी, विदृ सदृ खांडेकर ने कलाप्रदर्शन की अपेक्षा ध्येयवादी जीवनदर्शन को ही अपने उपन्यासों में महत्त्व का स्थान दिया। श्री मांडखोलकर ने समकालीन राजकीय घटनाओं के आधार पर अनेक उपन्यासों का सृजन किया। श्री विभावरी शिरुकर जी ने अपने कथासाहित्य में संपन्न समाज की महिलाओं के मन की सूक्ष्म विचारतरंगों को बड़ी सफलता से चित्रित किया।

नादृ सीदृ फड़के ने अनेक प्रणयकथाएँ सुदंर शैली में लिखीं, जो यथेष्ट लोकप्रिय हुईं। रविकिरण मंडल के कवियों ने, विशेषत: माध्व ज्यूलियन और यशवंत ने वैयक्तिक दु:खों का वर्णन करने वाले काव्यों की रचना की। इसके बाद के कालखंड में अनिल, बोरकर, कुसुमाग्रज, आदि कवि सामने आए। प्रल्हाद केशव अत्रे ने हास्य एवं समस्याप्रधान नाटकों का निर्माण किया। वरेरकर

ने समय समय पर दृष्टिगोचर होने वाली समस्याओं को प्रधानता देनेवाले नाटकों को सृजन कर बहुत बड़ा कार्य किया। इसी समय व्यक्तिगत चरित्र के आधार पर लिखे गए निबंध भी लघुकथाओं के रूप में सामने आए। श्री मदृ माटे द्वारा लिखित कथाओं में अस्पृश्य समाज के सुख दु:खों की करुण कहानी देखने को मिली। ठीक इसी समय यदृ गोदृ जोशी द्वारा मध्यम वर्गीय समाज के सुख दु:खों को कथाओं का रूप देकर जनता के सम्मुख रखा गया। विदृ दादृ सावरकर, मदृ माटे, केदृ क्षीरसागर, पुदृ गदृ सहस्रबुद्धे, दत्तोवमान पोतदार, आदि विद्वानों ने बहुमूल्य निबंधो द्वारा साहित्यभांडार की अभिवृद्धि की। ददृ केदृ केलकर, रादृ श्रीदृ जोग तथा केदृ नादृ वाटवे ने पौर्वात्य एवं पाश्चिमात्य शास्त्रीय तथा साहित्यकीय विचारों का सांगोपांग अध्ययन किया।

1945-1965

इस कालखंड का आरंभ ही दूसरे महायुद्ध के समय निर्मित साहित्य के आधार पर हुआ। इस काल के वाग्मय से इसके पूर्व के काव्य और कथाओं के प्रमुख आशय को एवं आविष्कारादि संकेतों को जबरदस्त धक्का लगा जिसके फलस्वरूप साहित्य का मूल्य ध्वस्त होता सा प्रतीत होने लगा। मानव जीवन की असफलता, तुच्छता, घृण्यता तथा परस्पर के अकल्पनीय संबंधों का असुंदर जी की कविताओं ने रसिकों की काव्यदृष्टि में ही परिवर्तन कर दिया। गाडगील, भावे, गोखले आदि मनीषियों द्वारा लिखित साहित्य में मनोमय व्यापार, उग्र वासना का प्रक्षोभ, एवं गूढ़ विचारतरंग इत्यादि की जो विशिष्टता अभिव्यंजित की गई, उसके कारण वाग्मय का स्वरूप ही बदल गया। विदृ दादृ करंदीकर तथा मुक्तिबोध काव्यों में मानववाद की अभिव्यक्ति हुई। ग्रामीण जीवन का यथार्थ दर्शन व्यंकटेश माडगुलकर ने कराया, तो दूसरी ओर माधव शास्त्री जोशी ने मध्यवर्गीय जीवन का वास्तविक चित्र जनता के सम्मुख रखा। संपन्न वर्ग के स्त्री पुरुषों के सुख एवं दु:खों का दिग्दर्शन रांगणेकर, कालेलकर, बाल कोल्हाटकर इत्यादि द्वारा लिखे नाटकों में दिखाई पड़ता है, जो विद्याघर गोखले द्वारा लिखित नाटक में प्राचीन संगीत नाट्यकला पुनरुज्जीवित हो उठी है। पेंडसे, दांडेकर, माडगूलकर आदि के उपन्यासों में प्रादेशिक हलचल के साथ सूक्ष्म भावना दर्शन को भी महत्त्व दिया गया है। श्री रणजीत देसाई एवं इनामदार ने ऐतिहासिक उपन्यासों का पुनरुद्धार किया। इसी प्रकार तेंदुलकर, साठे, खानोलकर इत्यादि ने नए ढंग के नाटकों का प्रणयन किया। कानेरकर जी द्वारा लिखित

प्रयोगी नाटक इसी कालखंड में लिखे गए। मर्ढेकर, वादृ लदृ कुलकर्णी, श्रीदृ केदृ क्षीरसागर, रादृ शंदृ वालिंबे, दिदृ केदृ बेडेकर आदि विद्वानों ने साहित्य के मूल सिद्धांतों की चर्चा करनेवाले अत्यंत मूल्यवान् एवं आलोचनात्मक ग्रंथ प्रकाशित किए। नेने, मिराशी, कोलते, तुलपुल इत्यादि विद्वानों का संशोधनात्मक वाग्मय भी इसी समय निर्मित हुआ। पुदृ लदृ देशपांडे के ठोस विनोदी साहित्य ने रसिकों के मन में अचल स्थान प्राप्त कर लिया।

इस प्रकार सन् 1874 से निर्मित आधुनिक मराठी वाग्मय रूपधारी सरस्वती की धारा काव्य, कथा, नाटक, उपन्यास, चरित्र, एवं इतिहास संशोधनादि प्रवाहों से दिन प्रति समृद्ध हो रही है।

1990 के आगे

इस कालखंड का आरंभ 1990 से पहले 'शब्दवेध' (संपादक दा. गो. काले) से हुआ द्य श्रीधर तिळवे (1992) कि 'एका भारतीय विद्यार्थ्याचे उद्‌गार' और सलील वाघ (1996) कि 'निवडक कविता' इन किताबोमे नये आयाम और भूमंडलीकरण तथा आधुनिकोत्तर संवेदना पायी जाती है। तत्पश्चात 'अभिधा' और 'अभिधानंतर' (संपादक - हेमंत दिवटे), 'सौष्ठव' (संपादक - श्रीधर तिल्वे, राहुल सरवटे) 'नवाक्षर दर्शन' (संपादक - प्रवीण बांदेकर), 'खेल' (संपादक - मंगेश काळे), 'ऐवजी' (संपादक - रमेश इंगले उत्रदकर) आधी लघुपत्रिकाओंका काफी योगदान रहा। कविता में श्रीधर तिळवे, संजीव खांडेकर, सलील वाघ, वर्जेश सोलंकी, मान्या जोशी, नितीन कुलकर्णी, मंगेश नारायणराव काले, हेमंत दिवटे, सचिन केतकर आदी कवियोने भूमडलीकरन तथा पोस्तमाडर्न संवेदानाओंके अपने दायरे मे लाया. कादंबरीमे रमेश इंगले, जी. के. ऐनापुरे, प्रवीण बांदेकर, मेघना पेठेने कादंबरीके नये परिमाण खोजे।

मराठी में साहित्य अकादमी पुरस्कार

मराठी साहित्य में विशिष्ट योगदान के लिए हर साल मराठी साहित्यकारों को साहित्य अकादमी की ओर से साहित्य अकादमी पुरस्कार दिए जाते हैं। पुरस्कार विजेता साहित्यकार और उनके किताबों की सूची इस प्रकार है-

1955 - तर्कतीर्थ लक्ष्मण शास्त्री जोशी - 'वैदिक संस्कृतिचा विकास'

1956 - बा. सी. मर्ढेकर - 'सौंदर्य आणि साहित्यश

1957 - कोई पुरस्कार नहीं

1958 – चिंतामणराव कोल्हटकर – 'बहूरूपीश
1959 – ग. त्र्यं. देशपांडे – 'भारतीय साहित्यशास्त्रश
1960 – विष्णु सखाराम खांडेकर – 'ययाति'
1961 – डी.एन. गोखले – 'डॉ केतकर'
1962 – पी.वाय. देशपांडे – 'अनामिकेची चिंतनिका'
1963 – श्री. ना. पेंडसे – 'रथचक्र'
1964 – रणजित देसाई – 'स्वामी'
1965 – पु. ल. देशपांडे – 'व्यक्ति आणि वल्ली'
1966 – टी. एस. शेजवळकर – 'श्री शिव छत्रपति'
1967 – ना. गो. कालेलकर – 'भाषा: इतिहास आणि भूगोल'
1968 – इरावती कर्वे – 'युगांत'
1969 – एस.एन. बनहट्टी – 'नाट्याचार्य देवल'
1970 – एन.आर. पाठक – 'आदर्श भारत सेवक'
1971 – दुर्गा भागवत – 'पैस'
1972 – गोदावरी परूळेकर – 'जेंव्हा माणुस जागा होतो'
1973 – जी.ए. कुळकर्णी – 'काजळमाया'
1974 – विष्णु वामन शिरवाडकर – 'नटसम्राट'
1975 – रा. भा. पाटणकर – 'सौंदर्य मिमांसा'
1976 – गो. नि. दांडेकर – 'स्मरणगाथा'
1977 – आत्माराम रावजी देशपांडे 'अनिल' – 'दशपदी'
1978 – चिं. त्र्यं. खानोलकर 'आरती प्रभु' – 'नक्षत्रंचे देणे'
1979 – शरदचंद्र मुक्तिबोध – 'सृष्टि, सौंदर्य आणि साहित्यमुल्य'
1980 – मंगेश पाडगांवकर – 'सलाम'
1981 – लक्ष्मण माने – 'उपरा'
1982 – प्रभाकर पाध्ये – 'सौंदर्यानुभव'
1983 – व्यंकटेश माडगुळकर – 'सत्तांतर'
1984 – इंदिरा संत – 'गर्भरेशीम'
1985 – विश्राम बेडेकर – 'एक झाड आणि दोन पक्षी'
1986 – एन.जी. देशपांडे – 'खूण गाठी'
1987 – रा. चिं. ढेरे – 'श्री विठ्ठल: एक महासमन्वय'
1988 – लक्ष्मण गायकवाड – 'उचल्या'

1989 – प्रभाकर उर्ध्वरेशे – 'हरवलेले दिवस'
1990 – आनंद यादव – 'झोंबी'
1991 – भालचंद्र नेमाडे – 'टीका स्वयंवर'
1992 – विश्वास पाटिल – 'झाडा झडती'
1993 – विजया राजाध्यक्ष – 'मर्ढेकरांची कविता'
1994 – दिलीप चित्रे – 'एकूण कविता – 1'
1995 – नामदेव कांबळे – 'राघव वेल'
1996 – गंगाधर गाडगीळ – 'एका मुंगीचे महाभारत'
1997 – म. वा. धोंड – 'ज्ञानेश्वरीतील लौकिक सृष्टि'
1998 – सदानंद मोरे – 'तुकाराम दर्शन'
1999 – रंगनाथ पाठारे – 'ताम्रपट'
2000 – एन.डी. मनोहर – 'पानझड'
2001 – राजन गावस – 'टणकट'
2002 – महेश एलकुंचवार – 'युगांत'
2003 – त्यं. वि. सरदेशमुख – 'डांगोरा एका नगरीचा'

12

तेलुगू साहित्य

तेलुगु का साहित्य अत्यन्त समृद्ध एवं प्राचीन है। इसमें काव्य, उपन्यास, नाटक, लघुकथाएँ, तथा पुराण आते हैं। तेलुगु साहित्य की परम्परा 11वीं शताब्दी के आरम्भिक काल से शुरू होती है जब महाभारत का संस्कृत से नन्नश्य द्वारा तेलुगु में अनुवाद किया गया। विजयनगर साम्राज्य के समय यह पल्लवित-पुष्पित हुई।

काल विभाजन

आजकल तेलुगु साहित्य का विभाजन निम्नलिखित चार कालों में किया जाता है-

(1) पुराणकाल,
(2) काव्यकाल,
(3) ह्रासकाल, और
(4) आधुनिककाल

कुछ लोग तेलुगु साहित्य का विभाजन निम्नलिखित वर्गों में भी करते हैं-

प्रांनन्नय युग–सन् 1000 तक
नन्नय युग–1000 - 1100
शिवकवि युग–1100 - 1225
तिक्कन युग–1225 - 1320
घर युग–1320 - 1400
श्रीनाध युग–1400 - 1500

रायल युग–1500 - 1600
दक्षिणांध्र युग या नायकराजुल युग–1600 - 1775
क्षीण युग–1775 - 1875
आधुनिक युग–1875 से अब तक
पुराणकाल (1001 से 1400 ई. तक)

किसी भी भाषा के साहित्य का आरंभ लिपि के पूर्व ही गीतों के रूप में होता है। गीत, साहित्य की तरह स्थायी नहीं होते। ईसा से 800 वर्ष पूर्व तेलुगु लिपि का प्रादुर्भाव माना गया है। लेकिन उस काल का साहित्य लिपिबद्ध नहीं है। उसके पश्चात् शिलालेखों में कुछ तेलुगु साहित्य पाया जाता है। उसके पूर्व गीतसाहित्य के प्रचलन होने का अनुमान किया जा सकता है। तेलुगु का लिपिबद्ध साहित्य ई. सन् 11वीं शताब्दी के आरंभ से पाया जाता है।

तेलुगु के आदिकवि नन्नय भट्ट ने संस्कृत महाभारत का अनुवाद तेलुगु पद्य में किया। यह अनुवाद होते हुए भी स्वतंत्र कृति के रूप में दिखाई देता है। शैली संस्कृत शब्दबहुला तथा कोमल है। इन्होंने 'आंध्रशब्द चिंतामणि' के नाम से एक तेलुगु व्याकरण ग्रंथ की रचना संस्कृत शब्दों में की। यह एक अनोखी घटना है कि तेलुगु के आदिकवि ही इस भाषा के प्रथम वैयाकरण सिद्ध हुए। व्याकरण के रचयिता होने के कारण वे 'वागनुशासन' के नाम से प्रख्यात हुए। उनके केवल आदि एवं सभापर्व पूर्ण और अरण्यपर्व के कुछ भाग मिलते हैं। तेलुगु देश में यह प्रतीत है कि नन्नय की रचना के पढ़े बिना सरल और मधुर कवि बनना कठिन है। महाभारत की रचना में उन्हें पंडित नारायण भट्ट का पूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ। नन्नय भट्ट 11वीं शताब्दी के चालुक्यवंशीय राजा 'राजराजनरेंद्र राजमहेंद्रवरम्' के कुलगुरु थे। तिक्कन सोमयाजी तथा एर्राप्रेगडा नामक दोनों कवियों से महाभारत की रचना पूर्ण हुई।

नन्ने चोड - ये राजा टेकनादित्य के नाम से भी प्रसिद्ध हैं। ये कन्नड़ आदि भाषाओं के भी विद्वान् थे। इनकी अनूदित कृति 'कुमार-संभव' है। यह अनुवाद कालिदास कृत कुमारसंभव का नहीं, किंतु उद्भट भट्ट के कुमारसंभव का है।

अथर्वणाचार्य - इनका अथर्वण 'कारिकावली' के नाम से एक व्याकरण और अथर्वण छंद के नाम से एक छंदोग्रंथ प्रचलित है। इन्होंने महाभारत का अनुवाद भी संस्कृतमय शैली में किया। जैनधर्मावलंबी होने के कारण इनका महाभारत अनादृत हुआ।

पालकुर्रकि सोमनाथ – ये वरंगल के निवासी शैवधर्म के अनुयायी थे। इनके 'पंडिताराध्यचरितमु' और 'बसवपुराणमु' प्रसिद्ध हैं। इन्होंने शैवधर्म प्रचारार्थ 'द्विपद' नाम के देशी छंद का अनुसरण किया। अन्यवाद कोलाहलम् और सोमनाथ भाष्यम् आदि इनके ग्रंथ संस्कृत में भी प्राप्त हैं। तेलुगु कवियों में सोमनाथ का स्थान बहुत बड़ा माना जाता है।

भद्रभूपति – इस राजा की कृतियाँ 'नीतिसारमुक्तावली' और 'सुमतिशतकमु' हैं। इनका यह दूसरा ग्रंथ अत्यंत लोकप्रिय है।

भास्कर रामायण – यह लोकप्रिय ग्रंथ है। इस ग्रंथ के अधिकांश का अनुवाद भास्कर कवि ने किया।

तिक्कन सोमयाजी – ये तेलुगु साहित्य की महान विभूति हैं। ये 'कविब्रह्म' के नाम से प्रख्यात हैं। हर और हरि दोनों देवताओं में कोई भेद यह नहीं मानते थे। नन्नय के दो शताब्दी पश्चात् इनका जन्म हुआ। इन्होंने महाभारत के विराटपर्व से लेकर उसके अंत तक 15 वर्षों का अनुवाद करके हरिहर भगवान के चरणों में अर्पित किया। ये कवि ही नहीं, कविनिर्माता भी थे।

रंगनाथ रामायण – इसके प्रणेता रंगनाथ या गोनबुद्धारेढी थे। यह द्विपदा छंद में लिखी गई। इसमें लोकोक्तियाँ प्रचुर मात्र में हैं।

एर्राप्रेगड्ढा – ये कवि शंभुदास के नाम से भी प्रसिद्ध हैं। इन्होंने महाभारत के अरण्यपर्व के अवशिष्ट भाग का अनुवाद किया। इसलिये महाभारत के तीनों रचयिता 'कवित्रयमु' के नाम से प्रसिद्ध हैं। एर्राप्रेगड्ढा की अन्य कृतियाँ तेलुगु में नृसिंहपुराणमु और 'हरिवंश' आदि हैं।

नाचन सोमन्न – इनकी रचना 'उत्तरहरिवंश' है। यह महत्त्वपूर्ण काव्य माना जाता है।

केतन्न – ये तिक्कन के शिष्य थे। इन्होंने दंडी कृत 'दशकुमार चरित' का पद्यात्मक अनुवाद किया है तथा 'विज्ञानेश्वर' नामक धर्मशास्त्रग्रंथ और 'भाषाभूषणमु' नाम के रीतिग्रंथों की रचना की। इस प्रकार ये कवि के साथ साथ आचार्य भी थे।

नन्नयभट्ट ने वैदिक धर्म का अवलंबन करके महाभारत का अनुवाद किया। नन्नय की रचना ने बौद्ध, जैन धर्मों पर प्रबल आघात किया। पालकुरिकि सोमनाथ कवि ने शैवधर्म का आश्रय लेकर देशी साहित्य का प्रणयन किया। नन्नेचोड कवि ने देशी और मार्ग कविता की परंपरा चलाई। सोमनाथ के द्वारा शतक साहित्य का श्रीगणेश हुआ। सन् 1200 से 1380 ई॰ तक काकतीय वंश

के राजा गणपति और प्रतापरुद्र ने तेलुगु साहित्य की बड़ी सेवा की। इस काल में पुराणों का अनुवाद भी किया गया। काकतीय राजाओं ने तेलुगु साहित्य के उन्नयन के साथ साथ संस्कृत के महान ग्रंथों की रचना को भी प्रोत्साहन दिया। इसके फलस्वरूप 'प्रतापरुद्रीयमु' नाम के अलंकारशास्त्र ग्रंथ के अलावा अन्य महत्त्वपूर्ण संस्कृत ग्रंथों का भी निर्माण इन राजाओं के दरबार में हुआ।

काव्यकाल (1400 से 1700)

महाकवि श्रीनाथ -- इन्होंने नैषधीयचरित का पद्यानुवाद 'शृंगार नैषधम' नाम से किया। इनकी अन्य कृतियाँ 'मरुतराटचरित', 'शालिवाहन सप्तशती', 'भीमखंड,ष 'हरविलास' आदि हैं। द्विपदा छंद में 'पलनाटि वीर चरित्रमु' और कई चाटूक्तियाँ तथा अन्यान्य मौलिक रचनाएँ भी इन्होंने की हैं। इनके मुकाबिले का शायद ही कोई विद्वान् कवि तेलुगु में मिलता हो। इस युग के प्रसिद्ध कवियों में अन्नयामात्य कवि भी एक हैं। ताल्लपाक अन्नमाचार्य ने भगवान तिरुपति बालाजी की स्तुति में, 16 वर्ष की अवस्था में हजारों पद रचकर स्वयं ताम्रपत्रों में लिखे हैं। इसका प्रकाशन तिरुपति देवस्थानम् की ओर से किया गया है।

पिल्लल मर्रिपिन वीरन्न - इनका रचनाकाल 1400 से 1500 ई.तक माना जाता है। इनकी कृतियों में 'अवतारदर्पणमु', 'नाटकीय पुराणमु', 'माघ महात्यमु', 'भानसोल्लासमु', 'शकुन्तला परिणयमु' और 'जैमिनि भारतमु' आदि उल्लेखनीय हैं।

दूषगुंट नारायणकवि - इन्होंने पंचतंत्र का पद्यानुवाद किया।

भक्त वेमन्न कवि - सन् 1412 से 1480 तक के काल के भक्तकवि वेमन्नयोगी ने एक सुंदर शास्त्र की रचना की। आंध्र प्रदेश में कोई ऐसा व्यक्ति न मिलेगा जिसकी जिह्वा पर वेमन्न का कोई न कोई छंद या पद न हो। वेमन्न के ही समान भक्त कवि सन् 1480 के आसपास वरंगल जिला (आंध्र प्रदेश) के बंमेर पोतन्न थे। इन्होंने महाभागवतपुराण का अनुवाद अत्यंत सुचारु रूप से प्रसादगुण युक्त शैली में किया। इनकी अन्य कृतियों में 'वीरभद्रविजयमु', 'योगिनी दंडकमु' आदि प्रमुख हैं। ये राजाश्रय को घृणा की दृष्टि से देखते थे। इन्होंने अपनी महाभागवत की रचना को श्री रामचंद्र जी के चरणों पर समर्पित किया। यह तेलुगु साहित्य का अत्यंत लोकप्रिय ग्रंथ है। पोतंनकादि, सूरदास के समान भक्त कवि थे। इस युग में श्रीनाथ आदि कवियों ने संस्कृत ग्रंथों का अनुवाद ही नहीं किया बल्कि मौलिक ग्रंथों की रचना भी की। कुछ कवियों ने

संस्कृत नाटकों का काव्यानुवाद किया। ये तेलुगु के भक्त कवियों की अग्रश्रेणी में हैं।

श्री कृष्णदेवरायलु युग – कृष्णरायलु का राज्यकाल सन् 1509 से 1530 तक था। यह युग आंध्र साहित्य के इतिहास में स्वर्णयुग के नाम से प्रसिद्ध है। ये कन्नड, तेलुगु तथा संस्कृत भाषाओं के प्रकांड विद्वान् एवं कवि थे। देश की रक्षा के साथ साथ इन्होंने साहित्य के क्षेत्र को एक नई विकासदिशा दी। इनकी रचनाएँ 'मदालसा चरित्रम्', 'सत्यावधुप्रीणनम्', 'सकलकथासारसंग्रहम्', 'ज्ञानचिंतामणि' और 'रसमंजरि' आदि हैं। तेलुगु में इनके 'आमुक्तमाल्यदा' की टक्कर का कोई भी काव्य शायद ही मिलता हो। इनका संस्कृत नाटक 'जांबवंती परिणयमु' अब भी उपलब्ध है। इनके दरबारी कवि 'अष्टदिग्गज' के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन अष्टदिग्गजों में प्रथम प्रतिभावान् कवि अल्लासानि पेद्दन को 'कवितापितामह' की उपाधि से विभूषित किया। इनकी 'मनुचरित' रचना अत्यंत लोकप्रिय है। इनकी कविता से प्रभावित होकर कृष्णदेवराय ने कवि के दक्षिणपाद में स्वर्णघंटिका पहनाई। मादयूयागारि-मल्लन कवि राजशेखरचरित् के रचयिता थे। नंदतिम्मन ने 'पारिजातापहरणमु' की तथा धूर्जटि कवि ने 'कालहस्ति माहात्यमु' की रचना की। कालहस्ति दक्षिण में आंध्र प्रदेश का पवित्र स्थान है। नृसिंह कवि ने 'कविकर्ण रसायनमु' नामक रचना में यह दावा किया कि उनके काव्य की शृंगारी कविता को पढ़ने से विरागी भी रसिक बनते हैं और वैराग्य का वर्णन पढ़ने से रसिक भी विरागी बन जाते हैं। ताल्लपाक चिन्नयामात्य कवि का अन्नमाचार्यचरित् ऐतिहासिक काव्य है, जिसने समसामयिक काव्यों में विशेष स्थान प्राप्त किया। अय्यलराय कवि ने 'सकलकथा सार संग्रहम्' कृष्णदेवरायलु के ग्रंथ का तेलुगु में अनुवाद किया।

पिंगलि सूरन्न – इनके ग्रंथ 'राघवपांडवीयमु', 'कलापूर्णोदियमु', 'प्रभावती प्रद्युम्नमु' हैं। प्रथम द्वयर्थी काव्य है तो द्वितीय अनुपम कल्पित कथानक। तृतीय की कथा पुराणप्रसिद्ध है।

पोन्नगंटि तेलगनार्य – इन्होंने 'ययातिचरितमु' नामक एक काव्य ठेठ तेलुगु भाषा में लिखा।

तेनालि रामलिंग कवि – इनकी रचना 'पांडुरंग माहात्यमु' है। यह जटिल काव्य है। ये तेलुगु के कवियों में हास्यरस के कवि माने जाते हैं। इनकी कई हास्यकथाएँ आंध्र प्रदेश में परंपरा से प्रचलित हैं।

रामाराजभूषण कवि - इनका काल 1550 से 1590 ईङ्क्ष तक है। उस समय तेलुगु कवियों में उनके मुकाबिले का कोई कवि नहीं था। उनके ग्रंथ 'वसुचरित्रमुष्'नरसमूपालीयमु' और 'हरिश्चंद्रनलोपाख्यानमु' आदि हैं। नरसमूपालीयमु नीतिग्रंथ है। 'वसुचरित्रमु' इनका सर्वोत्तम काव्य है। प्रबंधकला का चरम विकास इस ग्रंथ में हुआ। इस काव्य के प्रत्येक शब्द में संगीत की मधुर ध्वनि सुनाई देती है। उपर्युक्त विशेष साहित्यिक गुणों के कारण इस कव्य का अनुवाद तमिल तथा संस्कृत भाषाओं में भी हुआ है। इनका पांडित्य 'हरिश्चंद्र-नलोपाख्यानमु' नामक द्वयर्थी काव्यरचना से प्रमाणित होता है।

कुम्मरि मोल्ल -ये तेलुगु भाषा की प्रथम कवयित्री हैं। ये कुम्हार जाति की स्त्री थीं। इनकी रामायण प्रसाद गुण से ओतप्रोत है। इनके पूर्व तिरुमलूक्कं नाम की कवयित्री भी प्रसिद्ध थीं।

शंकर कवि ने हरिश्चंद्रोपाख्यान की तथा तरिगोंडधर्मन्न कवि ने चित्रभारतमु नामक अलंकारप्रधान काव्यग्रंथ की रचना की। तेलुगु साहित्य में अवधानकविता नाम की एक अनोखी कविता प्रचलित है। आजकल तेलुगु कविता क्षेत्र में 'सहस्रावधान', 'शतावधान' और 'अष्टावधान' भी प्रचलित हैं। इस कविता में सुप्रख्यात तिरुपति और वेंकट कवि विशेषकर उल्लेखनीय है। वेंकटशास्त्री आंध्रप्रदेश के सर्वप्रथम राजकवि बनाए गए। 19वीं शतब्दी के आदिकाल में इस कविता की नींव तरिगोंडधर्मन्न ने डाली।

एलकूचि बालसरस्वती - इन्होंने 'सारंगधर चरित्रमु' 'विजयविलासमु' नामक ग्रंथों की रचना की। श्री कृष्णदेवरायलु के राज्यकाल में काव्यकला का चरम विकास हुआ। इस युग में कवियों ने संस्कृत ग्रंथों का अनुवाद करना छोड़कर स्वतंत्र मौलिक काव्यों की रचना ख्यात वृत्तों और कल्पित वृत्तों में की।

ह्रासकाल (1650 - 1900)

इस युगविशेष में आंध्र प्रदेश के छोटे छोटे राज्यों में विभक्त होने के कारण काव्यकला के भाग्य में राजाओं के आश्रय में रहकर विकसित होने की सुविधा न थी। इसी बीच अंग्रेजों का भी भारतागमन हुआ।

शेषमुवेंकटपति - ने 'तारशशांक विजयमु' नामक नाटक की रचना की।

कूचिमचितिम्मकवि ने ठेठ तेलुगु में 'अच्च तेलुगु रामायणमु', 'नीला सुंदरीपरिणयमु' की रचना की। 'रसिकजनमनोभिराममु', 'राजशेखर विलासमु', 'सर्वलक्षणसार संग्रहमु' इनकी अन्य रचनाएँ हैं। 'शिवलीला विलासमु' आदि भक्तिप्रधान कृतियाँ भी इन्होंने लिखीं।

एनुगु लक्ष्मणकवि – ये 'रामेश्वर महात्म्यमु', 'गंगामहात्म्यसमु' 'गोवर्ण सूर्य शतकमु' और 'सुभाषित रत्नावली' आदि के रचयिता हैं। सुभाषित रत्नावली भर्तृहरि की त्रिशती का सफल अनुवाद है।

पिडिप्रोल लक्ष्मण कवि – इन्होंने 'रावणदंभीयमु' या 'लंका विजयमुद्ध नामक काव्य लिखा। यह दूषित काव्य है। इस कवि ने रावण का आरोप धर्माराव नामक राजा पर करके काव्य की रचना की। इसी युग में क्षेत्र"या और त्यागराजु नामक दो कवि बड़े सुप्रतिष्ठित हुए हैं। त्यागराजु के पदों की मधुरिमा से दक्षिण भारत के प्रत्येक व्यक्ति का मन मुग्ध हो जाता है।

आधुनिक काल (1850 ई. से आगे)

इस युग में अंग्रेजी भाषा के विद्वान् सीपी ब्राउन महोदय ने तेलुगु की बड़ी सेवा की। इनका निघंटु (कोश) अंग्रेजी से तेलुगु, तेलुगु से अंग्रेजी में लिखा गया प्रसिद्ध कोश है। ये आंध्र प्रदेश में अंग्रेज न्यायाधीश थे। कंदुकूरि वीरेशलिंगम् पंतुलु उदारहृदय, समाजसेवी तथा विद्वान् थे। इन्होंने कई नाटक, उपन्यास, काव्य, कहानी आदि ग्रंथ लिखकर साहित्य के प्रत्येक मार्ग को प्रशस्त किया। ये भारतेंदु हरिश्चंद्र की तरह समाज सुधारक थे। सन् 1910 से काव्य की नवीन धारा साहित्य के क्षेत्र में बहने लगी। तेलुगु साहित्य में भी रहस्यवादी, छायावादी कविताएँ प्रवाहित हुई। इसके साथ साथ स्वतंत्रता के आंदोलन के समय राष्ट्रीयता की लहर साहित्य में तरंगित हो उठी। इस युग में कव्य, नाटक, उपन्यास, समालोचना, कहानी, गीतिनाटक, एकांकी आदि का विकास हुआ। आजकल रेडियो नाटक भी प्रसारित हो रहे हैं। 1940 ई. से प्रगतिवाद का प्रादुर्भाव हुआ। अन्नसंकट आदि की समस्याओं को लेकर भी रचनाएँ की गई।

आधुनिक काल के प्रमुख विद्वान् परब्रस्तु चिन्नयसूरि (1506–1852) ने 'बाल व्याकरणमु' लिखकर तेलुगु भाषा का मार्ग प्रशस्त तथा सुव्यवस्थित किया। यह विश्वविद्यालयों के विद्यार्थियों के लिये अनिवार्य पाठ्यग्रंथ है। इनकी 'नीतिचंद्रिका' पंचतंत्र का गद्यानुवाद है। यह भी विद्यालयों में बहुत प्रचलित है।

बहुजनपल्लि सीतारामाचार्य – इन्होंने सर्वप्रथम प्रामाणिक कोश 'शब्दरत्नाकर' की रचना की। इसकी टक्कर का लोकप्रिय कोश अबतक अप्राप्य है।

वेदंवेंकटराय शास्त्री – (1859 से 1929) तेलुगु और संस्कृत के प्रकांड पंडित थे। 'साहित्यदर्पण' आदि ग्रंथों का अनुवाद भी इन्होंने किया।

धर्मवरम् रामकृष्णमाचार्य – (1859 से 1913 तक) इन्होंने कई स्वतंत्र नाटक लिखकर उनका अभिनय स्वयं रंगमंच पर कराया। तेलुगु में खेले जाने योग्य नाटकों के निर्माण की नींव डालने का श्रेय इन्हीं को प्राप्त है।

जयंती राममा ने सात सौ शिलालेखों का प्रकाशन सरकार द्वारा कराया। तेलुगु में इनकी 'शासन पद्य मंजरी' लोकप्रिय है।

गिडुगु राममूर्ति पंतुलु ने तेलुगु भाषाशैली को सुधारा। व्यावहारिक बोलचाल की भाषा में ग्रंथ लिखने की नींव इन्होंने सर्वप्रथम डाली। इनकी कृतियों में 'गद्यचिंतामणि', 'बालकविशरणयमु' उल्लेखनीय हैं। इन्हीं के मार्ग का अनुसरण कर इनके सुपुत्र डाङ्क सीतापति संस्कृत और तेलुगु के ग्रंथों की रचना कर रहे हैं।

पानुगंटि लक्ष्मीनरसिंह राव – 'राधाकृष्ण कंठाभरण' आदि सात आठ नाटकों के रचयिता हैं। अंग्रेजी में जो स्थान एडिसन को प्राप्त है वही तेलुगु साहित्य में इनका है। इनकी व्यंग्य रचना 'साक्षी' नामक लेखमाला से प्रकट होती है।

श्रीपादकृष्णमूर्तिशास्त्री – ने वेदों का पूर्ण अध्ययन किया। शताधिक तेलुगु ग्रंथों की रचना की। उनकी महाभारत की रचना तेलुगु साहित्य में विशेष उल्लेखनीय है। इसी कारण ये 'आंध्रव्यास' कहे जाते हैं। ये कविसार्वभौम तथा महामहोपाध्याय की उपाधियों से भी विभूषित हुए। इनके नाटक कुछ स्वतंत्र और कुछ अनूदित हैं। ये आंध्र प्रदेश के राजकवि भी बनाए गए।

त्रिलकमूर्ति लक्ष्मी नरसिंहम् – जो आंध्र मिल्टन के नाम से प्रसिद्ध हैं। ये युवावस्था में ही अंधे हो गए। इनके कई नाटक और कहानियाँ आदि अत्यंत सुप्रसिद्ध हैं। चिलुकूरि वीरभद्रराव को आंध्र साहित्य का इतिहास लिखने का श्रेय प्राप्त है।

कोर्मराजु लक्ष्मणराव ने हिंदू महम्मदीय मुगल शिवा जी चरितमु आदि कई ग्रंथों की रचना की। 'आंध्रविज्ञान सर्वस्वमु' नाम से तेलुगु में एक विश्वकोश सर्वप्रथम तैयार करने का श्रेय इनको मिला। इसके केवल दो अंक छापे गए। इन्हीं के मार्ग पर तेलुगु भाषा समिति की ओर से तेलुगु विश्वकोश का प्रणयन हुआ।

चार्ल्स फिलिप ब्राउन ने तेलुगु निघंटु (कोष) संकलन करने और बनाने में सफल रहे। आधुनिक युग के युवकों पर पाश्चात्य साहित्य के स्वच्छंदतावाद, रहस्यवाद, प्रतीकवाद आदि का घनिष्ट प्रभाव पड़ा। वंग साहित्य के अनुवाद ने भी तेलुग में अपना स्थान ग्रहण किया।

विश्वसत्यनारायण – इन्होंने अपनी सर्वतोमुखी प्रतिभा से साहित्य के प्रत्येक कोने को प्रकाशित किया। हाल ही में इन्होंने श्रीमद्रामायण कल्पवृक्षमु नाम से बृहदाकार रामायण की रचना की। इस पंथ के सुप्रसिद्ध विद्वान् और कवि वेलूरी शिवराम शास्त्री, स्व: वेटूरि प्रभाकर शास्त्री, स्व. काटूरि वेंकटेश्वरराव, स्व: जनभंत्रि शेषाद्रि शर्मा, राल्लपल्लि अनंतकृष्ण शर्मा, स्व. मल्लमपल्लि सोमेशेखर शर्मा, नेदवोलुवेंकटराव, शिवशंकर शास्त्री, स्व. सुरवरम् प्रतापरेड्डी, स्व: मानवल्ली रामकृष्ण कवि, काशी कृष्णाचार्य (आंध्र के वर्तमान राजकवि), स्व: राजशेखर शतावधानी, गडियारम् वेंकटेश शास्त्री, उमरअली शाह, जाषुवा, तुम्मल सीताराम मूर्ति चौधरी, स्व: मदिराजु विश्वनाथ राव, स्व: कट्टमंचिरामलिंगा रेड्डी, स्व: दुव्वूरी-रामरेड्डी आदि प्रसिद्ध हैं। इनके पूर्व कवि की शैली में रचे हुए ग्रंथ तेलुगु साहित्य के आभूषण माने गए हैं। प्रगतिवादी कविता के अग्रदूत हैं श्री रंगम् श्रीनिवास राव। इनके अनुयायियों में अनेकानेक कवि हैं। देवुलपल्लि कृष्णशास्त्री, रायप्रोलु सुब्बाराव आदि भावकवि के नाम से प्रसिद्ध हैं। गुरुजाडा अप्पाराव सुप्रसिद्ध लोककवि हैं।

संस्कृत एवं तमिल आदि का प्रभाव

तेलुगु साहित्य अधिकांश: संस्कृत साहित्य से प्रभावित है, फिर भी उसमें मौलिक सर्जना पर्याप्त मात्र में हुई। तेलुगु में मार्गकविता यानी संस्कृतमय कविता और देशी कविता यानी व्यावहारिक शब्दों की कविता की गयी। मार्गकविता में पुराणसाहित्य का निर्माण हुआ। देशी कविता में द्विपदा साहित्य, जानपद साहित्य आदि का निर्माण हुआ। इसी बीच पुराणसाहित्य, नाटकसाहित्य, प्रबंधसाहित्य के अतिरिक्त उदाहरणसाहित्य आदि का भी निर्माण हुआ।

तेलुगु साहित्य पर तमिल साहित्य का प्रभाव भी काफी पड़ा। मौलिक उपन्यास लिखे गए। आजकल अनुवाद कार्य संस्कृत, अंग्रेजी, बँगला तथा हिंदी आदि अन्य भाषाओं से हो रहा है। रसगंगाधर आदि लक्षण ग्रंथों का अनुवाद माधव शर्मा आदि कवियों ने किया। 'ध्वन्यालोक' का अनुवाद तिरुत्रेंगडाचार्य और पंतुलु लक्ष्मीनारायण शास्त्री ने किया। प्रेमचंद्र की कहानियों के साथ साथ वैज्ञानिक साहित्य का अनुवाद भी तेलुगु में 'परमाणुगाथा' आदि ग्रंथों के पूरक के रूप में हो रहा है।

तेलुगु साहित्य क्षेत्र में 11वीं शताब्दी के आरंभ से आजतक के हजार वर्ष में इतिहास पुराणादि से गाँवों की कहानियाँ, गाने आदि तक की हर प्रवृत्ति की

हजारों कृतियों की सृष्टि हुई। आंध्र प्रदेश की साहित्य अकादमी तथा अन्य साहित्यिक संस्थाओं द्वारा इनकी श्रीवृद्धि भी यथासाध्य हो रही है। आंध्रप्रदेश में संस्कृत और तेलुगु भाषा में समान उच्च कोटि की प्रतिभा रखने वाले विद्वान् और कवि विराजमान हैं। इसका एकमात्र कारण इन दो भाषाओं का पारस्परिक संबंध है। संस्कृत के प्रमुख ग्रंथ तेलुगु में अनूदित हुए हैं। इन अनुवादों में व्याकरण, न्याय, वेदांत (दर्शन) आदि शास्त्रग्रंथ भी सम्मिलित हैं। उपर्युक्त साहित्यिक गतिविधियों के कारण तेलुगु भाषा और साहित्य का भविष्य उज्ज्वल एवं विकासोन्मुख दिखाई देता है।

पत्रपत्रिकाएँ

तेलुगु भाषा में मासिक, पाक्षिक, साप्ताहिक और दैनिक पत्र-पत्रिकाएँ अधिक संख्या में प्रकाशित होती हैं। मासिक पत्रों में प्रथम पत्रिका शारदा थी। भारती का आरंभ 1924 ईङ्क में हुआ। देशोद्धारक काशीनाथुनि नागेश्वर राव इस पत्रिका के संस्थापक थे। उस कांग्रेसी नेता तथा साहित्यसेवी के औदार्य से कई साहित्य लेखक, विद्यार्थी और साहित्यिक संस्थाएँ पली हैं। 'भारती' के अलावा 'सखी' उषा', 'वीणा', 'उदायिनी' और जयंती आदि तेलुगु मासिक पत्रिकाएँ उल्लेखनीय हैं। महिलाओं के लिये गृहलक्ष्मी, हिंदू सुंदरी, आंध्रमहिला आदि मासिक पत्रिकाएँ प्रचलित हैं। आंध्रमहिला का संचालन श्रीमती दुर्गाबाई देशमुख के द्वारा हुआ।

साप्ताहिक पत्रिकाओं में 'कृष्णा' पत्रिका प्रमुख है, जिसका संपादन कृणराव जी कर रहे थे। अब उसका संचालन श्री एम. एस. के. शर्मा द्वारा हो रहा है इसके अतिरिक्त साप्ताहिक पत्रिकाओं में 'आंध्र प्रभा', 'आंध्रपत्रिका' आदि उल्लेखनीय हैं। आंध्र प्रदेश सरकार के सूचना विभाग से 'आंध्रप्रदेश' नाम का मासिक पत्र भी प्रकाशित होता है।

दैविक पत्रों में आंध्र पत्रिका का संचालन लगभग 45 वर्ष पूर्व 'भारती' के संचालक श्री नागेश्वर राव जी द्वारा हुआ। अब इसके संचालक श्री शंभुदास हैं। 'आंध्रपत्रों का आरंभ करीब 20 वर्ष पूर्व नारायणमूर्ति के संपादकत्व में हुआ। अब इसके सपादक श्री नीलंराजु-वेंकटशेष"या हैं। इनके अतिरिक्त 'आंध्रज्योति', 'गोलकोंडा पत्रिका', 'आंध्रजनता', 'आंध्रभूमि' और कम्युनिस्टों की 'विशालांध्र' पत्रिका आदि आंध्र प्रदेश से निकल रहे हैं।

साहित्यिक संस्थाएँ

कई साहित्यक संस्थाएँ आंध्र प्रदेश में हैं। उनमें से आंध्र साहित्यिक परिषद् काकिनाडा, साहिती समिति रेपल्लै, अखिल साहित्य कला विवर्धन, आंध्रसंसद और नव्य साहित्य परिषद् गुंटूर, आंध्रसारस्वत परिषद् हैदराबाद उल्लेखनीय हैं। मद्रास की तेलुगु भाषा समिति की ओर से तेलुगु के विश्वकोश का निर्माण और प्रकशन हो रहा है। इसके अलावा हैदराबाद नगर में 'संग्रह आंध्रविज्ञान सर्वस्वमु' के नाम से तेलुगु में एक संक्षिप्त विश्वकोश भी प्रकाशित हो रहा है। उसके दो खंड निकल चुके हैं। इसके मुख्य संपादक उस्मानिया विश्वविद्यालय के तेलुगु विभाग के अध्यक्ष, प्रो. खंडवल्लि लक्ष्मीरंजनम् हैं। आंध्र विज्ञान सर्वस्वमु एवं तेलुगु भाषासमिति के अध्यक्ष डा. गोपाल रेड्डी हैं। आंध्र सरकार ने आंध्र प्रदेश साहित्य अकादमी की स्थापना सन् 1957 ई. में की है।

13

तमिल साहित्य

तमिल भाषा का साहित्य अत्यन्त पुराना है। भारत में संस्कृत के अलावा तमिल का साहित्य ही सबसे प्राचीन साहित्य है। अन्य भाषाओं की तरह इसे भी सामाजिक आवश्यकताओं ने जन्म दिया है।

संगम साहित्य तमिल भाषा में पांचवीं सदी ईसा पूर्व से दूसरी सदी के मध्य लिखा गया साहित्य है। इसकी रचना और संग्रहण पांड्य शासकों द्वारा मदुरै में आयोजित तीन संगम के दौरान हुई। संपूर्ण संगम साहित्य में 473 कवियों की 2381 रचनाएँ हैं। इन कवियों में से 102 अनाम कवि हैं। यह साहित्य प्राचीन तमिल समाज की सांस्कृतिक, साहित्यिक, धार्मिक, राजनीतिक और ऐतिहासिक अध्ययन के लिए बेहद उपयोगी हैं। इसने बाद के साहित्यिक रूढ़ियों को बहुत प्रभावित किया है। दक्षिण भारत के प्राचीन इतिहास के लिये संगम साहित्य की उपयोगिता अनन्य है। इस साहित्य में उस समय के तीन राजवंशों का उल्लेख मिलता है–चोल, चेर और पाण्ड्य।

परिचय

तमिल ईसा काल के आरंभ से ही लिखित भाषा के रूप में आ गयी थी। अतः इसमें कोई आश्चर्य नहीं है कि अधिकांश संगम साहित्य की रचना ईसा काल की आरंभिक चार शताब्दियों में हुई, यद्यपि उसका अंतिम रूप से संकलन 600 ईस्वी तक हुआ। राजाओं एवं सामान्तों के आश्रयाधीन सभाओं में एकत्र हुए कवियों ने तीन से चार शताब्दियों की अवधि में संगम साहित्य की रचना की। कवि, चारण, लेखक और रचनाकार दक्षिणी भारत के विभिन्न भागों से मदुरै

आए। इनकी सभाओं को 'संगम' और इन सभाओं में रचित साहित्य को 'संगम साहित्य' कहा गया। इसमें तिरूवल्लूवर जैसे तमिल संतों की कृतियाँ 'कुराल' उल्लेखनीय हैं, जिनका बाद में अनेक भाषाओं में अनुवाद किया गया। संगम साहित्य अनेक वीरों और वीरांगनाओं की प्रशंसा में रचित अनेक छोटी-बड़ी कविताओं का संग्रह है। ये कविताएँ धर्मसम्बन्धी नहीं है तथा ये उच्चकोटि की रचनाएँ हैं। ऐसी तीन संगम सभाएँ आयोजित हुई। प्रथम संगम में संकलित कविताएं गुम हो गई। दूसरे भाग की 2000 कविताएँ संकलित की गई हैं।

संगम साहित्य में 30,000 पंक्तियों की कविताएं शामिल हैं। इन्हें आठ संग्रहों में संकलित किया गया, जिन्हें 'एट्टूतोकोई' कहा गया। इनके दो मुख्य समूह हैं- पाटिनेनकिल कनाकू (18 निचले संग्रह) और पट्टूपट्टू (10 गीत)। पहले समूह को सामान्यतः दूसरे से अधिक पुराना और अपेक्षाकृत अधिक ऐतिहासिक माना जाता है। तिरुवल्लुवर की कृति 'कुराल' को तीन भागों में बाँटा गया है। पहला भाग महाकाव्य, दूसरा भाग राजनीति और शासन तथा तीसरा भाग प्रेम विषयक है।

संगम साहित्य के अलावा एक रचना 'तोलक्कापियम' भी है। इस रचना का विषय व्याकरण और काव्य है। इसके अतिरिक्त 'शिलाप्पदीकारम' तथा 'मणिमेकलई' नामक दो महाकाव्य हैं, जिनकी रचना लगभग छठी ईसवी में की गई। पहला महाकाव्य तमिल साहित्य का सर्वोत्तम रत्न माना जाता है। प्रेमगाथा को लेकर इसकी रचना की गई है। दूसरा महाकाव्य मदुरै के अनाज व्यापारी ने लिखा था। इस प्रकार दोनों महाकाव्यों में दूसरी सदी से छठी सदी तक तमिल समाज के सामाजिक, आर्थिक जीवन का चित्रण प्राप्त होता है।

नैनार और आलवार साहित्य

तमिल साहित्य में संगम काल के पश्चात अगला महत्त्वपूर्ण काल आलवारों और नयनारों द्वारा रचे गए भक्ति साहित्य का है। नैनारों की संख्या चार थी। ये शैव थे। आलवार 12 थे। ये विष्णु भक्त थे।

बौद्ध और जैन साहित्य

प्राचीन और मध्ययुगीन तमिल साहित्य में बौद्ध और जैन धर्म से संबंधित धार्मिक रचनाओं और चरित काव्यों का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस दृष्टि से पउमचरियु बेहद उल्लेखनीय रचना है।

मध्ययुगीन भक्ति साहित्य

आधुनिककालीन साहित्य

हिन्दी में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की भाँति तमिल साहित्य में सुब्रह्मण्य भारती (1882-1921) ने 'निजभाषा-उन्नति' के मूलमन्त्र के साथ नवजागरण का शंखनाद किया था। भारतेन्दु के समान ही भारती कविता, निबन्ध, गद्यकाव्य, पत्रकारिता, अनुवाद आदि साहित्य की प्रत्येक विधा के पुरोधा रहे। उनकी पहली कहानी 'छठा भाग' अछूतों के जीवन पर केन्द्रित है। विदेशी सत्ता से देश को स्वाधीन करने के संकल्प के साथ दलितों को उत्पीड़न से मुक्त करने का आ]वान इस कहानी में मुखरित है, फिर भी यह कहानी स्वयं उनके दावे के अनुसार कहानी के अभिलक्षणों पर खरी नहीं उतर पायी। इसके बाद तमिल कहानी की बागडोर भारती के ही साथी व. वे. सु. अ"यर के हाथों आयी। उनकी कहानी 'अरशभरत्तिन् कदै' (पीपलदादा की कथा) इस तथ्य का ज्वलन्त प्रमाण है कि अय्यर कहानी की निश्चित एवं विशिष्ट रूप-कल्पना के प्रति सचेत थे।

तीस और चालीस के दशक राष्ट्रीय चेतना और सृजनात्मक प्रतिभा की दृष्टि से तमिल साहित्य एवं संस्कृति के क्षेत्र में एक लघु नवजागरण काल के रूप में उभरे। इस युग में संगीत, नृत्य और साहित्य के क्षेत्र में सृजनात्मक प्रतिभा की धनी अनेक विभूतियों का प्रादुर्भाव हुआ। साहित्य के क्षेत्र में सिरमौर माने जानेवाले पुदुमैपित्तन (1906-1948) ने एक छोटे-से अरसे में सौ से अधिक कहानियाँ रच डालीं- कथ्य और शिल्प, मुहावरा और प्रवाह, तकनीक और शैली हर लिहाज से उत्कृष्ट कहानियाँ। साथ ही यह भी सच है कि पुदुमैपित्तन के सम्पूर्ण लेखन में कड़ुवाहट और निराशावाद का अन्तःस्वर सुनाई देता है।

इसी युग में कु. पं. राजगोपालन ने नारी की वेदना को अपनी कहानियों में अंकित किया। न. पिच्चमूर्त्ति की कहानियों परिवार की चारदीवारियों में चित्रण है। ल. सा. रामामृतम की कहानियाँ परिवार की चारदीवारियों में सिमट जाती हैं। चिदम्बर सुब्रह्मण्यन ने जीवन के उदात्त एवं कोमल पक्षों पर प्रकाश डाला। सि. सु. चेल्लप्पा में किसी भी वातावरण के सूक्ष्म विवरण के साथ पुनः सृजन करने की दक्षता है। 'मणिक्कोडी' पत्रिका के माध्यम से अनेक कथाकारों की प्रेरक शक्ति रहे बी.एस. रामय्या स्वयं प्रतिभावान साहित्यकार थे। ति. जानकीरामन की कहानियों में एक सम्मोहक आकर्षण है। कल्कि की कहानियों

में जनरंजकता के साथ हास्य का पुट है। कु अलगिरि सामी में घिसी-पिटी और मामूली बातों को सीधी सरल भाषा में वर्णित करने की अद्‌भुत क्षमता है। जयकान्तन की विशेषता यह है कि उन्होंने अपने पूर्ववर्ती कथाकारों की खूबियों को आत्मसात् करते हुए उन्हें परिष्कृत ढंग से प्रस्तुत करने में कामयाबी हासिल की है।

जयकान्तन के पचास के दशक में, जब तमिल कहानी के प्रांगण में पदार्पण किया, साहित्य-जगत् संकटपूर्ण घड़ी में गुजर रहा था। विशाल पाठक-वर्ग का दावा करनेवाली भीमकाय पत्रिकाओं का साम्राज्य स्थापित हो गया और सर्जनात्मक प्रतिभाएँ इस कुहरे से आच्छादित हो गयी। ये व्यवसायिक पत्रिकाएँ तथा कथित जनरुचि की आड़ लेते हुए विज्ञापनबाजी की होड़ में सस्ते मनोरंजन की सामग्री छापने लगी। फलः सच्चे साहित्यकारों ने इन पत्रों को छोड़कर लघु-पत्रिकाओं में लिखना पसन्द किया। यह अलग बात है कि उन्हें अपने लेखन के बदले में कुछ भी नहीं मिला। अगले दशक तक आते-आते व्यावसायिक पत्रों ने लघु-पत्रिकाओं को नेस्तनाबूत कर दिया। सृजनात्मक लेखन के क्षेत्र में एक तरह की स्थिरता आ गयी।

ऐसी विषम परिस्थिति में उल्टी धारा में तैरते हुए, जिन लेखकों ने कथा-साहित्य में अपनी पहचान बनायी, उनमें अखिलन और जयकान्तन के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। अखिलन के लेखन में रोमांस लिये हुए आदर्शवाद का पलड़ा भारी दिखता है जबकि जयकान्तन की कहानियों में कथानकों की विविधता, समस्याओं का यथार्थ चित्रण और प्रस्तुतीकरण की तकनीक नयी बुलन्दियाँ छू रही हैं। अखिलन और जयकान्तन में एक समानता यह पायी जाती है कि दोनों ने व्यावसायिक पत्रिकाओं में लिखते हुए कभी भी अपने आत्मसम्मान के साथ समझौता नहीं किया। जयकान्तन इस विषय में एक कदम आगे ही रहे। जिन व्यावसायिक पत्रिकाओं में उनकी कहानियाँ छपती थीं, मंच पर खड़े होकर उनके विरुद्ध सात्त्विक रोष से गर्जन करते थे। वामपन्थी विचारधारा की पत्रिका में जिस समस्या पर लिखते, उसी को और अधिक तीखे शब्दों में व्यावसायिक पत्र में लिखने का साहस उनमें है।

तमिल कथा-साहित्य में जयकान्तन के वर्चस्व के नैरन्तर्य को समझने के लिए उनके परवर्ती युग के इतिहास की चर्चा आवश्यक है। सुन्दर रामस्वामी (जन्म 1931) जयकान्तन के समकालीन हैं। समीक्षक वेंकट स्वामिनाथन के शब्दों में, ''दोनों ही कथाकार स्वाध्याय के धनी थे और प्रारम्भिक लेखन में

वामपन्थी विचारधारा से प्रभावित थे। अब वामपन्थी सिद्धान्त के साथ उनकी पहचान नहीं की जाती, ऐसे में उनकी समानता यहीं समाप्त हो जाती है। सुन्दर रामस्वामी की कृतियाँ स्पृहणीय हास्य के साथ अधिक परिष्कृत है, किन्तु वे कभी-कभार ही लिखते हैं। जयकान्तन मुखर, गम्भीर और आक्रामक तेवर के लेखक हैं, जो प्रचुर मात्र में लिखते हैं। साठ-सत्तर के दशकों में जयकान्तन तमिल लेखकों में सव्यसाची माने जाते थे। उनकी भाषा सशक्त है और चयनित विषय मुखर साहसिकता से ओतप्रोत।''

तीस के दशक में मुखरित दो सृजनात्मक स्वर पचास के दशक में आलोचक स्वर बनने को बाध्य हुए। ये स्वर क.ना. सुब्रह्मण्यम और सि.सु. चेल्लप्पा थे। चेल्लप्पा प्रतिकूल परिस्थितियों से जूझते हुए अपनी लघु-पत्रिका 'एषुन्तु' (1959-1970) के माध्यम से सशक्त पाठक-मण्डल का सृजन करने में सफल रहे। साठ के दशक के अन्त तक 'एषुन्तु' द्वारा दिखाये मार्ग का अनुसरण करते हुए लघु-पत्रिकाओं का एक आन्दोलन-सा शुरू हो गया। इन पत्रिकाओं के पन्नों से साठोत्तर दशक से लेकर बीसियों कहानी-लेखक उभरे, जो तीस-चालीस के दशकों के लेखकों के उत्तराधिकारी बने। इनमें उल्लेखनीय नाम हैं- प्रपंचन, कि. राजनारायणन, अशोक मित्रन, एन.मुत्तुस्वामी, चार्वाकन, सुजाता, पूमणि, पावण्णन, दिलीप कुमार, सा.कन्दस्वामी, इन्दिरा पार्थसारथी, वण्ण निलवन, तिलकवती, नांजिल नाडन, वण्ण दासन आदि। इन सभी को रूप और तकनीक विरासत में मिल गयी, जिसे अपने ढंग से विकसित करना मात्र इनका काम था।

अस्सी और नब्बे के दशकों में पहुँचते-पहुँचते प्रतिभा-सम्पन्न रचनाकारों की संख्या में बढ़ोत्तरी हुई। इस अवधि में रचित साहित्य में तदनुरूप गुणात्मक श्रेष्ठता परिलक्षित होती है। तमिल साहित्य की पूर्ववर्ती दुनिया ब्राह्मणों और उनके निचले स्तर के उच्च वर्ण के हिन्दुओं की थी। इसके विपरीत साक्षर निचले तबकों में से एक पीढ़ी छोड़कर अगली पीढ़ी से आये लेखकों ने अपने जीवन के अनुभवों और दृष्टिकोण से वर्तमान तमिल लेखन को विशाल अनुभव-विश्व से परिचित कराया है, ऐसे रंग-वैविध्य एवं रोष-आक्रोश के तेवर दिखलाये हैं, जो अभूतपूर्व हैं।

14

भारतीय लिपियाँ

भारत में बहुत सी भाषाएँ तो हैं ही, उनके लिखने के लिये भी अलग-अलग लिपियाँ प्रयोग की जातीं हैं। किन्तु इन सभी लिपियों में बहुत ही साम्य है। ये सभी वर्णमालाएँ एक अत्यन्त तर्कपूर्ण ध्वन्यात्मक क्रम (phonetic order) में व्यवस्थित हैं। यह क्रम इतना तर्कपूर्ण है कि अन्तरराष्ट्रीय ध्वन्यात्मक संघ (IPA) ने अन्तरराष्ट्रीय ध्वन्यात्मक लिपि के निर्माण के लिये मामूली परिवर्तनों के साथ इसी क्रम को अंगीकार कर लिया।

भारत में लिपि का उद्‌भव और विकास

प्राचीन भारत की दो लिपियों में 'खरोष्ठी' दाएँ से बाएँ लिखी जाती थी और ब्राह्मी बाएँ से दाएँ। प्रायः यहाँ के पश्चिमोत्तर सीमाप्रदेशों (पंजाब, कश्मीर) में ही प्राचीन काल में खरोष्ठी का प्रचार था। दूसरी लिपि 'ब्राह्मी' का क्षेत्र अत्यंत व्यापक था। भारतीयों की परंपरागत मान्यता के अनुसार संस्कृत भाषा (ब्राह्मी या भारती) और ब्राह्मीलिपि का प्रवर्तन सृष्टिकर्ता 'ब्रह्मा' द्वारा आरंभिक युग में हुआ। कदाचित् इस कल्पना या मान्यता का आधार 'ब्राह्मी' नाम है। 'ब्राह्मी तु भारतीय भाषा गीर्वाग्वाणी सरस्वती' द्वारा 'अमरकोश' ने 'ब्राह्मी' पद के अर्थबोध की व्यापक दृष्टि का संकेत किया है। यह शब्द 'सरस्वती' का भी और 'भाषा' (मुख्यः संस्कृत भाषा) का भी अभिधान है। पर इन पौराणिक और परंपरागत सिद्धांतों में पूर्व और पश्चिम के आधुनिक इतिहासवेत्ता आस्था नहीं रखते।

'वेद' या 'वैदिक वाग्मय' के लिए प्रचलित 'श्रुति' शब्द के आधार पर अनेक पाश्चात्य पंडितों ने सिद्धांत निकाला है कि 'दशोपनिषत्काल' तक निश्चय

ही भारत में लेखनविद्या या लिपिकला का अभाव था। वैदिक वाग्मय का अध्यापन गुरु शिष्य की मुख परंपरा और स्रवण परंपरा से होता था। लिपि का अभाव ही उसका मुख्य कारण था। 'पाणिनि' को ई.पू. चतुर्थ शताब्दी का माननेवाले 'मैक्समूलर' के मत से उस समय तक लिपि का अभाव था। 'बर्नेल' के अनुसार (अशोक) लिपि का उद्‌भव फिनीशियावासियों से लिखना सीखने के बाद उन्हीं की लिपि से हुआ। यूरोप की भी प्राय: अधिकांश लिपियाँ उसी लिपि से विकसित मानी गई हैं। भारत में इसका प्रवेश ई.पू. 500 से 400 तक के बीच हुआ। उक्त मत से असहमति प्रकट करते हुए 'बूलर' का कहना है कि भारत में प्राचीन लिपि का विकास 'सामी' (सेमिटिक) लिपि से हुआ है, जिसके अक्षरों का प्रवेश ई.पू. 800 के आस-पास (संभवत:) हुआ था। ई.पू. 500 के लगभग अथवा उससे भी पूर्व भारतीयों द्वारा ब्राह्मी के विकास और निर्माण का कार्य बड़े श्रम से संपन्न हो गया था। 'बूलर' ने लिपि-विद्या-संबंधी ग्रंथ में कहा है कि कुछ नव्यतम प्रमाणों के आधार पर भारत में लिपि के प्रवेश का समय ई.पू. 10वीं शती या उससे भी पूर्व स्थिर किया जा सकता है।

अशोक के शिलास्तंभ अभिलेखों से स्पष्ट है कि ई.पू. चतुर्थ शताब्दी तक लिपिकला भारत में काफी विकसित हो चुकी थी। पिपरावा, बडली, सोहगौरा, महस्थान आदि में उपलब्ध अशोकपूर्वयुगीन लघु लेखों के आधार पर भारत में लिपिप्रयोग का कार्य ई.पू. 5वीं शती के पूवार्ध तक चला जाता है। प्राचीन यूनानी यात्री लेखकों के अनुसार कागज की और ई.पू. चतुर्थ शती में भारत को लेखन कला की अच्छी जानकारी थी। बौद्ध वाग्मय के आधार पर ई.पू. 400 या उसके भी पहले ई.पू. छठीं शती तक उस जानकारी की बात प्रमाणित है। स्वयं 'पाणिनि' के धातुपाठ में 'लिपि' और 'लिबि' धातु हैं। डॉ. गौरीशंकर हीराचंद ओझा ने अनेक शास्त्रीय ग्रंथों के आधार पर सिद्ध किया है कि 'पाणिनि' और 'यास्क' से भी अनेक शताब्दी पूर्व भारत में अनेक लिखित ग्रंथ थे और लेखन कला का प्रयोग भी होता था। बूलर, 'बॉटलिक' और 'रॉथ' ने भी प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से भारत में लिपिकला की प्राचीनता स्वीकार की है। कोलब्रुक कनिंघम, गौरीशंकर हीराचंद ओझा आदि भी भारत में लेखनकला का व्यवहार 'बुद्ध से अनेक शताब्दी पूर्व' मानते हैं।

ब्राह्मी की उत्पत्ति

ब्राह्मी की उत्पत्ति को विद्वानों का एक वर्ग अभारतीय मानता है। दूसरा वर्ग भारतीय।

(1) डिके असीरीयाई कीलाक्षरों से संबंद्ध 'सामी' से,
(2) 'कुपेरी' चीनी लिपि से,
(3) डॉ. साहा आदि 'अरबी लिपि' से
(4) 'सेनार्ट', 'विल्सन' आदि ग्रीक लिपि से,
(5) बूलर, बेवरर, टेलर आदि व्यापारियों द्वारा उनकी 'मेसोपोटामिया' और 'आरमयिक' लिपियों से इसका संबंध बताते हैं। ग्रीक का भी इसी से संबंध है। अः विलियम और बेवर के मत भी इसी पक्ष के पोषक हैं।

दूसरे वर्ग के लोग इसका विकास स्वतंत्र रूप में भारतीय सीमा के भीतर ही मानते हैं। इधर हड़प्पा और मोहनजोदड़ो से उपलब्ध मुद्राओं के लेखखंडों के आधार पर सिंधुघाटी सभ्यता की लिपि से 'ब्राह्मी' की उत्पत्ति बताते हैं। कुछ साहसिक विद्वानों ने सुमेरी, सिंधु घाटी और वैदिक आर्य- तीनों सभ्यताओं को एक मूल स्रोत से विकसित मानकर किसी एक लिपि से अथवा प्राचीनतम सुमेरी लिपि से ब्राह्मी के उद्‌भव का अनुमान किया है। पर यह मत अभी गंभीरः विचारणीय है। सिंधुघाटी की लिपि ब्राह्मी और खरोष्ठी दोनों से विचित्र और भिन्न लगती है। निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि अधिकांश भारतीय पंडितों के मतानुसार 'देवनागरी' का विकास उस 'ब्राह्मी' से हुआ है, जो ई.पू. हजारों वर्षों से भारत में प्रचलित थी और जिसका विकास स्वयं भारत में और भारतीयों द्वारा हुआ था।

भारतीय लिपियों की विशेषताएँ

वर्णात्मक चिह्नावली

भारतीय भाषाओं में संगणक पर कार्य करने के लिये उनकी लिपियों की बुनियादी समझ आवश्यक है। वर्णमाला में दो प्रकार के वर्ण होते हैं - स्वर व व्यंजन। व्यंजन वे वर्ण हैं, जिन्हें एक अकेली इकाई के रूप में बिना स्वर की सहायता से उच्चारित नहीं किया जा सकता, जबकि स्वरों का उच्चारण स्वतन्त्र रूप से या व्यंजन के साथ जोड़कर किया जा सकता है। उदाहरण के लिए यदि हम 'क' वर्ण का अकेले उच्चारण करें तो उसमें व्यंजन ध्वनि 'क' के साथ स्वर ध्वनि 'अ' अवश्य होगी। जबकि स्वर ध्वनि 'अ' का उच्चारण स्वतन्त्र रूप से किया जा सकता है। बोलते समय हम वाक्य या शब्द में आने वाली ध्वनियों कोशृंखला रूप में उच्चारित करते हैं। इन उच्चरित ध्वनियों को यदि हम व्यंजन

व स्वर वर्णों की सहायता से क्रमबद्ध तरीके से लिखें तो हिन्दी शब्द 'कमला' कुछ इसप्रकार से लिखा जाएगा।

क्. अ. म्. अ. ल्. आ

यहाँ पर, प्रत्येक व्यंजन एवं स्वर को अलग-अलग लिखा गया है। इस लिखने के तरीके में विशेषता यह है कि इसमें वर्णाक्षर व्यंजन और स्वर उच्चारण क्रम के अनुसार लिखे गये हैं।

जब शब्द में उच्चारित ध्वनियों को वर्णों द्वारा उच्चारण क्रम में लिखा जाता है तब इस पद्धति को वर्णात्मक चिह्नावली (alphabetical notation) कहते हैं।

वर्णात्मक चिह्नावली समझने में, सरल होती है तथा भाषा को लिपिबद्ध करने की दिशा में इसे पहला स्वाभाविक कदम माना जा सकता है। यह टंकण (typing) के लिये भी उपयुक्त है। किन्तु इसकी कमी यह है कि इसमें लिखना ज्यादा पड़ता है, जिसके कारण समय और कागज दोनों ही का ज्यादा खर्च होता है। अंग्रेजी की रोमन लिपि एक वर्णात्मक चिह्नावली है। अंग्रेजी में 'कमला' ध्वनिक्रम इस प्रकार लिखा जाएगा :

ा ं उ ं स ं

(अंग्रेजी में वर्ण व ध्वनि में अभेद संबंध न होने से, जो कठिनाइयाँ आती है, वह एक पृथक विषय है। चूंकि उसका संबंध वर्णात्मक चिह्नावली से नहीं है अतः उसपर हम यहाँ चर्चा नहीं करेंगे।)

अक्षरात्मक चिह्नावली

वर्णात्मक चिह्नावली की उपरोक्त कमियों को दूर करने के लिये भारतीय भाषाओं में अक्षरात्मक चिह्नावली (syllabic notation) का विकास किया गया है। इसके अन्तर्गत प्रत्येक स्वरान्त syllable के लिये एक चिह्न का उपयोग होता है, जिसे अक्षर कहते हैं। स्वरान्त syllable से अर्थ है शून्य, एक या उससे अधिक व्यंजनों के बाद स्वर से मिलकर बनने वाला वर्ण-क्रम। उदाहरण के लिये, निम्नलिखित वर्ण-क्रम स्वरांत-syllable है:-

0. अ = अ

क्. अ = क

ख्. य्. अ = ख्य

शब्द के अन्त में, अन्तिम व्यंजनों के क्रम में स्वर न होने पर भी उसे अक्षर के रूप में लिख सकते है, उदाहरणार्थ हिन्दी में प्राय: शब्द के अन्तिम व्यंजन के स्वर का उच्चारण नहीं होता परन्तु लिखित रूप में वहाँ पूर्णाक्षर का प्रयोग होता है। जैसे–कमल।

अत:, अक्षर एक या अधिक वर्णों को प्रदर्शित करता है।

अक्षर की संरचना में एक अहम् बात यह है कि अक्षर का आकार व्यंजन व स्वरों की मात्राओं के आकार से मिलकर बनता है (क़ई=की)। अत: इन्हें सीखना आसान है। (कुछ विशेष अक्षरों को छोड़कर, जैसे 'क्ष')। वर्णात्मक व अक्षरात्मक चिह्नावली के कुछ सरल उदाहरण है:-

वर्णात्मक चिह्नावली अक्षरात्मक चिह्नावली

क्. अ = क

म्. अ = म

इसमें मुख्य बात यह है कि व्यंजन के साथृअ' स्वर को जोड़ कर एक 'सरल' अक्षर बना दिया गया। उदाहरणार्थ–यहाँ क' प्रतीक है एक सरल अक्षर का जो 'क' व्यंजन व अकारान्त स्वर के मिलने से बना है (क्. अ = क)। इस चिह्नावली के अन्तर्गत व्यंजनों में स्वरों के योजन के लिये मात्राओं का विकास हुआ। यदि व्यंजन के बाद अ' के अतिरिक्त कोई अन्य स्वर आता है तो अक्षर पर एक छोटा सा विशेष चिह्न लगा दिया जाता है, जो उस स्वर का द्योतक है। इसी चिह्न को उस स्वर की मात्र कहते हैं, जैसे उ' की मात्र उ' ए' की मात्र ए' इ' की मात्र इ' इत्यादि। जब व्यंजन के बाद अ' स्वर आता है तो किसी भी अतिरिक्त निशान की आवश्यकता नहीं होती। उदाहरणार्थ,

वर्णात्मक चिह्नावली अक्षरात्मक चिह्नावली

(मात्र अलग से प्रदर्शित)

की: क्. ई = क. ई

कु: क्. उ = क. उ

क: क्. अ = क

कई: क्. अ. ई = क. ई

उपरोक्त में की' व कई' के अन्तर पर गौर कीजिए। की' में क' पर ई' स्वर की मात्र है जबकि कई' में क' और ई' अक्षर क्रमबद्ध रूप में हैं। अत:,

मात्राओं को अक्षर पर अंकित किया जाता है चाहे अक्षर सरल हो या संयुक्त। हर मात्र को लगाने के लिये विशिष्ट स्थान हैं, जो कि अक्षर के चारों ओर हैं। जैसे:-

3 (ए, ऐ)
द्य----------द्य
1 द्य अक्षर द्य 2
(इ) द्य द्य (आ, ई, ओ, औ)
द्य----------द्य
4 (उ, ऊ)

अक्षर के बायीँ ओर 'इ' की मात्र आती है, इसी प्रकार से 'ए' व 'ऐ' मात्राएँ ऊपर आती हैं, 'उ' व 'ऊ' नीचे तथा अन्य दायीं ओर। यह तरीका, हस्त-लेखन के लिये अति लाभप्रद है। परंतु टंकण की दृष्टि से कुछ कठिनाइयाँ आती हैं, जिनका उल्लेख हम बाद में करेंगे। इतना करने से लिखना बहुत सरल व संक्षिप्त (compact) हो जाता है। हाँ, सीखने की दृष्टि से थोडी सी मेहनत ज्यादा है, चूंकि अब मात्राओं को भी सीखना पड़ता है।

(संयुक्ताक्षरों के प्रयोग से लिपि और अधिक संक्षिप्त हो जाती है, परन्तु साथ ही उनको भी अलग चिह्नों के रूप में सीखना पड़ता है। इस पर चर्चा बाद में.)

इस आविष्कार का एक परिणाम यह है कि एक सरल अक्षर में 'अ' की अनुपस्थिति प्रदर्शित करने के लिये एक विशेष मात्र लगानी पड़ती है, जिसे हम हलन्त कहते है। उदाहरणार्थ, क्या' शब्द में क' अक्षर पर हलन्त लगाना पड़ता है–

वर्णात्मक चिह्नावली अक्षरात्मक चिह्नावली
(मात्र अलग से प्रदर्शित)
क्या: क्. य्. आ = क.ऋ. य. आ

संयुक्ताक्षर

दूसरी मुख्य बात यह है कि जब किसी शब्द में व्यंजन एक के बाद एक आते हैं तब उन्हें एक साथ जोड़कर लिखा जाता है, जिसे संयुक्ताक्षर भी कहते है। आगे आनेवाले स्वर के अनुरूप मात्र इसी संयुक्ताक्षर पर लगती है। उदाहरणार्थ, क्या' शब्द में शुद्ध व्यंजन क' तथा अक्षर य' है, जिन्हें क्रम से

जोड़कर क्य' संयुक्ताक्षर बनाया जाता है। तत्पश्चात साधारण नियम के अनुसार उस पर आ' की मात्र लगाई जाती है।

वर्णात्मक चिह्नावली अक्षरात्मक चिह्नावली

(संयुक्ताक्षर सहित)

क्याः क्. य्. आ = क्य्. आ = क्य. आ

ऐतिहासिक दृष्टि से इस तरह की यौगिक (compositional) syllabic-चिह्नावली, एक क्रान्ति से कम नहीं है। यही हमारी परिचित आधुनिक लिपि है।

संयुक्ताक्षर व मात्राएँ

अक्षरात्मक चिह्नावली में मात्र लगाने का नियम सरल व संयुक्त दोनों ही प्रकार के अक्षरों पर एक समान लागू होता है। मतलब यह है कि अक्षर चाहे सरल (उदाहरण के लिए,कश) हो या संयुक्त (उदाहरण के लिए,स्मश), मात्र ऊपर दिए गए नियमानुसार ही लगेगी। यानि इ' की मात्र नियमानुसार बायीं ओर लगती है तो वह दोनो प्रकार के अक्षरों में बायीं ओर ही लगेगी, जैसेः- क़इ=क़इ=कि। और यही नियम संयुक्ताक्षर पर भी लागू होता है, जिस कारणवशइ' की मात्र संयुक्ताक्षर के बायीं ओर लिखी जाएगी। नीचे दिये संस्कृत शब्द तस्मिन' में संयुक्ताक्षर ,स्मि' पर ध्यान दीजियेः-

तस्मिन् :

= त्. अ. स्. म्. इ. न् (वर्णात्मक चिह्नावली)

= त. स्म. इ. न् (अक्षरात्मक चिह्नावली - मात्र अलग से)

= त. स्मि. न् (अक्षरात्मक चिह्नावली)

'इ' मात्र 'म' के बायीं ओर न होकर, संयुक्ताक्षर 'स्म' के बायीं ओर लगती है, जो नियमानुसार है। (इस नियम को ठीक से न समझने के कारण कहीं कहीं पर यह पढने को मिलता है कि हमारी भाषाओँ की लिपियाँ नियमानुसार नहीँ हैं। यह बात सही नहीं है, तथा अज्ञानतावश कही जाती है।)

मात्राएँ लगाने के नियम के अन्तर्गत प्रत्येक अक्षर को एक चिह्नात्मक इकाई के रूप में लिया जाता है। अक्षर अपने आप में स्वर के बिना अधूरा है। सरल अक्षर मात्र एक स्वर का (अ), अथवा एक व्यंजन. एक स्वर का योग (D+v) होता है और संयुक्ताक्षर एक से अधिक व्यंजन व एक स्वर (L+E+v) का योग होता है।

मात्राओं को लगाने का नियमः-

हर मात्र को अक्षर पर लगाने का एक विशिष्ट स्थान होता है, जो अक्षर के इर्द-गिर्द होता है-- बायेँ, दायेँ, ऊपर, व नीचे। यह नियम सभी अक्षरों पर लागू होता है, अक्षर सरल हों या संयुक्त।

मात्राओं को लगाने के नियमों के समान ही व्यंजनों को जोड़कर संयुक्ताक्षर बनाने के लिये भी सरल किन्तु विशेष नियम हैः- व्यंजनों को बायें से दायें, या ऊपर से नीचे की ओर जोडा जाता है। जिसमें क्रम में पहला व्यंजन बायीं ओर या ऊपर की ओर होता है। बायें से दायें के उदाहरण हम देख ही चुके हैं जैसे, 'क्य' 'स्म' इत्यादि, ऊपर-नीचे जोड़ने के उदाहरण नीचे दिये हुए हैः-

सिद्धः- स्. इ. द्. ध्. अ = स. इ. द्ध
= सि. द्ध

विट्ठलः- व्. इ. ट्. ठ्. अ. ल्. अ = व. इ. ट्ठ. ल
= वि. ट्ठ. ल

द्वादशः- द्. व्. आ. द्. अ. श्. अ = द्वा. द. श

पद्मनाभः- प्. अ. द्. म्. अ. न्. आ. भ्. अ = प. द्म. ना. भ

उपरोक्त में चूँकि 'द्' के पश्चात् 'ध' आता है, अतः 'द' ऊपर व 'ध' नीचे लिखा जाता है। (छपाई में कभी कभी 'ध' 'द' के बायीं ओर प्रतीत होता है, इससे भ्रम हो सकता है कि भारतीय लिपियाँ नियमानुसार नहीं हैं। परंतु यह समझ में आते ही कि अक्षर ऊपर से नीचे निश्चित नियम से लिखे जाते है, यह भ्रम दूर हो जाता है।)

संयुक्ताक्षर बनाते समय, द्वितीय व्यंजन कण्े चिह्न को दायीं ओर लिखा जाए या नीचे, यह इस बात पर निर्भर करता है कि उन व्यंजनों का रूप कैसा है। रूप के अनुसार ही उन्हें उचित तरीके से जोड़ने में आसानी होती है। यदि दोनों व्यंजनों के चिह्नों में खडी-पाई (आ) नहीं है तो द्वितीय को प्रथम के नीचे लिखा जाता है, जैसे 'ट्ठ'। (यदि किसी फौन्ट में, ऊपर-नीचे लिखने के सीमित चिह्न हैं, तो उनमें हलन्त की सहायता ली जाती है।)

II संयुक्ताक्षर बनाने का नियमः-

दो व्यंजनों को जोड़कर संयुक्ताक्षर बनाने का नियम है-- बायें से दायें, व ऊपर से नीचे। कौनसा तरीका काम में लिया जाय, यह व्यंजनों के

i पर निर्भर करता है।

'र' के लिये विशेष नियम

र' के साथ कुछ विशेष नियम है, जो संक्षिप्तता की दृष्टि से बनाये गये हैं। यह नियम संयुक्ताक्षर के क्रम में र' के स्थान पर निर्भर करते हैं। अगर र' दूसरे स्थान पर है और उसके पहले कोई व्यंजन तथा बाद में स्वर है तो संयुक्ताक्षर बनाते समय र' के लिए पहले व्यंजन के नीचे एक विशेष चिह्न लगा दिया जाता है–

ट्रकः ट्. अ. क्. अ = ट्र. क

प्रकारः प्.ँ अ. क्. आ.ँ अ = प्र. का. र

इसी प्रकार यदि र' के बाद व्यंजन है तो उस व्यंजन के ऊपर एक विशेष चिह्न लगा दिया जाता है–

पवर्रू प्. अ.ँ व्. अ = प. र्व

अतः संयुक्ताक्षर में र' व्यंजनक्रम में पहले होने पर ऊपर तथा बाद में होने पर नीचे आता है।

अनुस्वार का प्रयोग

हमारी लिपि में एक और तरीका है संक्षिप्तता से लिखने कारू– यह है अनुस्वार का प्रयोग। प्रत्येक व्यंजन के वर्ग में अन्तिम व्यंजन के लिये, अनुस्वार का प्रयोग किया जा सकता है, जैसेः-

अन्तिम = अंतिम

व्यंजनों की नासिक्यता (nasalization) के लिये अनुस्वार (a) का प्रयोग होता है तथा स्वरों की नासिक्यता के लिए अनुनासिक (¡) का प्रयोग होता है। उदाहरण के लिएः

ह्. अँ. स्. अ = हँस, और

ह्. अ. न्. स्. अ = हन्स =हंस

इनमें चन्द्रबिन्दु (ँ) तो स्वरों की नासिक्यता को चिह्नित करता है, परन्तु बिन्दु (ं) का एकमात्र उद्देश्य लिपि में संक्षिप्तता लाना है।

अन्य बातें

यहाँ यह कहना आवश्यक है कि भाषा की दृष्टि से शुद्ध व्यंजन व शुद्ध स्वर के माध्यम से ही विश्लेषण करना सही है। ISCII मानकानुसार कम्प्यूटर

में आन्तरिक तौर पर अक्षरात्मक चिह्नावली में ही लेख रखा जाता है। उसमें मात्राएँ भी शामिल हैं। परंतु भाषा संसाधन के लिये, उनको हटाकर शुद्ध व्यंजन व स्वर में आसानी से परिवर्तित किया जा सकता है।

अनुस्वार की तरह के नियम अन्य भारतीय भाषाओं में भी हैं। एक सी वर्ण व्यवस्था तथा अक्षरात्मक लिपि होने से सभी भारतीय भाषाओं में एक समानता है। किसी एक भाषा की लिपि का कम्प्यूटरीकरण होने पर अन्य भारतीय भाषाओं का कम्प्यूटरीकरण आसान है। जो तकनीक एक पर लगाई गई हो, वह दूसरी भाषाओं के कम्प्यूटरीकरण में भी काम में आ सकती है। जैसे जिस्ट प्रौद्योगिकी कम्प्यूटर पर सभी भारतीय भाषाओं की लिपियों में एक साथ कार्य करती है।

कम्प्यूटर में टंकण (type) करने के लिये कुंजीपटल (keyboard) का प्रयोग किया जाता है, जिसका कमेपहद हमारी उँगलियों के आकार व हाथ की लंबाई पर निर्भर करता है। अत: कुंजियों की बनावट व आकार में अत्यधिक परिवर्तन नहीं हो सकता। ज्यादा कुंजियाँ होने पर कुंजियों को ढूंढना व याद रखना कठिन हो जाता है। अत: एक संयुक्ताक्षर का एक ही कुंजी से टंकण करना मुश्किल व अलाभप्रद है। कम्प्यूटर के आने से पूर्व बने मशीनी टाइपराइटर पर टंकण करने में अनेकों कठिनाइयाँ आती थी। पहली तो यह कि यदि हम चाहते हैं कि टाइप की हुई सामग्री अक्षरात्मक-चिह्नावली में दिखे, तो उसी चिह्नावली में उसे टाइप करना अनिवार्य है। अत: संयुक्ताक्षर सहित अनेकों चिह्नों को कुंजीपटल पर याद रखना पड़ता था। दूसरा, चूँकि मात्राएँ अक्षर के चारों ओर आ सकती हैं, अत: ऐसी मशीन बनाना तो जटिल कार्य था ही, साथ ही वनजचनज सुंदर नहीं दिखता था। इन सब को देखते हुए कम्प्यूटर प्रौद्योगिकी में यह सोचा गया कि अगर हम टंकण तो वर्णात्मक चिह्नावली में कर सकें, पर कम्प्यूटर screen पर परिचित अक्षरात्मक चिह्नावली दीख पडे तो अच्छा होगा। इसी को आधार मानकर इस प्रौद्योगिकी का सफल विकास किया गया है। ये सब कमियाँ कम्प्यूटर के आगमन से सामाप्त हो गई हैं। परंतु यह आवश्यक है कि हम वर्णात्मक व अक्षरात्मक चिह्नावली में पारस्परिक संबंध को समझें।

❐❐❐